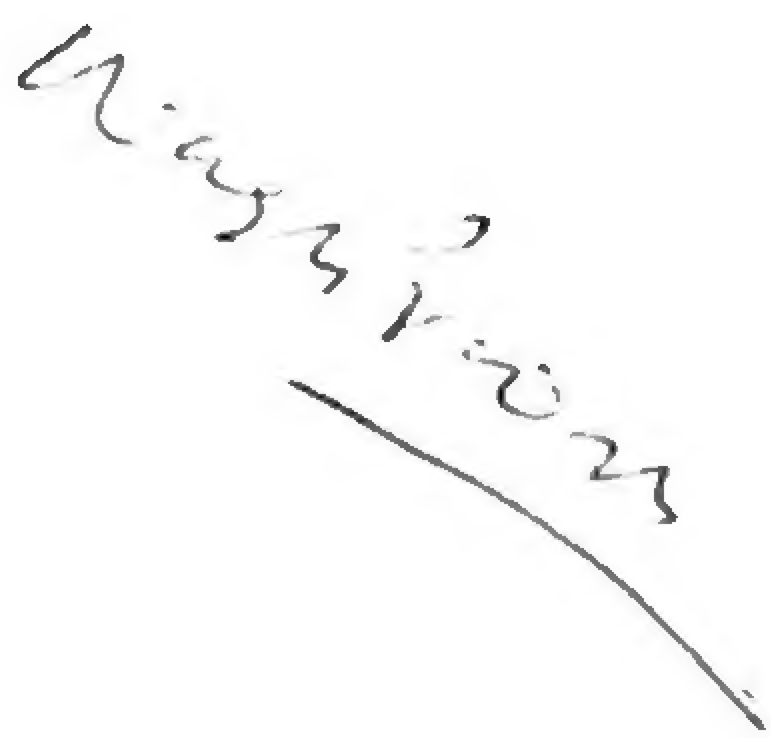


काव्यामृत

सरनदास भनोत

काव्यामृत

(हिन्दी के प्रमुख कवियों की चुनी हुई सरस तथा
सुबोध कविताओं का संग्रह)

सम्पादक
प्रो० सरनदास भनोत एम० ए०
अध्यक्ष संस्कृत-हिन्दी विभाग, एफ० सी० कालेज
सदस्य ओरियंटल फैकल्टी तथा संस्कृत-हिन्दी बोर्ड
पंजाब यूनिवर्सिटी, लाहौर

प्रकाशक
एस. चाँद एण्ड कम्पनी
दिल्ली-लाहौर

प्रकाशक
गौरी शकर शर्मा
एस. चाँद एण्ड कम्पनी
देहली

मूल्य २)

मुद्रक
नव संसार प्रेस
दिल्ली

भूमिका

काव्य-कला का अभ्यास केवल आशय-हीन मनोविनोद की सामग्री नहीं। मनोजरंजन इसका फल जरूर है किन्तु केवल आनुषिङ्गक। इसका मुख्य उद्देश्य मानव की मंगलमय कल्पनाओं को उत्तेजित करना है, उसकी उदात्त भावनाओं को जाग्रत करना है; ऐसा हमारा विश्वास है। 'कला कला के लिये' का सिद्धान्त एक व्यर्थ और काल्पनिक आदर्श है। इससे उच्च कोटि की इनी गिनी महान् आत्माओं की परितृप्ति भले ही हो सके; जन साधारण के लिए इसकी कोई उपादेयता नहीं। और भी; मानव का जीवन स्वल्प है, इनमें पूर्णतया यत्न करने पर भी वह उन वृत्तियों का सन्तोष-जनक विकास नही कर पाता जो उसके वास्तविक तत्वों के निर्माण में योग देने वाली हैं। ऐसी अवस्था में उद्देश्य-हीनता से किसी भी अभ्यास में व्यस्त होना उनके हितों के लिए कितना घातक हो सकता है, इसका अनुमान लगाना कठिन है। और कविता का तो जन्म ही संसार में इसीलिए हुआ है कि वह अभावग्रस्त मानवता के दुखमय संसार को मधुर बना दे दुखों को सुखों का स्वरूप देकर मानवता का हृदय में उसे सानन्द सहन करने को क्षमता भर दे अभाव को सम्पति में बदल दे। अच्छे कवि और काव्य की हम तो बस यही एक कसौटी समझते हैं।

इसी आशय को ध्यान में रखते हुए हमने अपनी ओर से इस बात का यत्न किया है कि प्रस्तुत संग्रह में यथासंभव उन रचनाओं का समावेश किया जाये जो विद्यार्थियों के चरित्र निर्माण में विशेष रूप से सहायक हों। भाषा और भाव दोनों सुबोध हों इसी बात का विशेष ध्यान रखा गया है। प्रथम आशय की रक्षा के लिए हमें रीतिकाल के सभी कवियों से क्षमा मांगनी पड़ी है। रीतिकाल की अनेक रचनाएं हमारे साहित्य की अमूल्य और अमर सम्पत्ति हैं। किन्तु मानव शरीर के बाह्य सौन्दर्य की भित्ति पर जिस ढंग से इनका निर्माण हुआ है वह हमारी दृष्टि में कोमल अवस्था के विद्यार्थियों के लिये अधिक उपादेय नहीं। इसी उपयोक्ता-वाद ने हमें कविवर भूषण को भी स्थान न देने पर विवष किया है। इनकी रचनाओं की उतकृष्टता के सम्बन्ध में मतभेद नहीं हो सकता। कड़कती हुई भाषा में लिखी हुई, ओज से पूर्ण इनकी हृदयस्पर्शी सूक्तियों ने अपने समय के देश और जाति के प्रणों में जिस प्रकार उत्साह और सहास का संचार किया था, उसके लिये आर्य जाति उनका चिरकाल तक आभार स्वीकार करेगी। परन्तु आज माना बदल चुका है। राष्ट्र राष्ट्रीयता और जाति गौरव के सम्बन्ध में हमारे ही नहीं, विश्वभर के विचारों में परिवर्तन हो चुका है। देश की आज की परिस्थितियों में संघर्ष और कलह के लिए कोई स्थान नहीं। विविध जातियों के अपने अपने अतीत गौरव के गान करने की अपेक्षा आज जरूरत है कि उनकी विविध संस्कृतियों के परस्पर सामन्जस्य और समन्वय के लिये यत्न किया जाय। इसी से देश के वास्तविक हितों की रक्षा होगी

इसी से सच्चे देश प्रेम की नींव सुस्थिर होगी। इसी प्रेरणा से हम इस संग्रह में साम्प्रदायिकता से पूर्णतया अछूती रचनाओं को ही स्वीकार कर सके हैं। विद्यार्थियों के इन हितों को ध्यान में रखते हुए हम केवल भक्तियुग और आधुनिक युग की प्रमुख धाराओं के प्रतिनिध कवियों को ही स्थान दे सके हैं।

कबीर भक्तियुग के प्रमुख कवि थे। हिन्दू और मुसलमान दोनों को धर्म के वाह्य आडम्बर में फंसा देखकर उनकी आत्मा सन्तप्त हो उठी था। वे समझते थे कि परस्पर कलह का रास्ता देश व जाति के पतन का रास्ता है। इसीलिए उन्होंने मानव चरित्र के महत्व पर जोर देते हुए धर्म के क्षेत्र में आडम्बर-प्रियता का खण्डन किया और एकेश्वर बाद का प्रचार किया। संघर्ष परायण दोनों जातियों को ऐक्योन्मुख करने का यही एक साधन था। वे स्वाभाविक तौर पर निर्गुणोपासना के समर्थक थे। किन्तु सहज में हो इस उपासना मार्ग के कष्ट साध्य होने के कारण जनता इच्छा रहते हुए भी चिरकाल तक इस पर न चल सकी। इसीलिए सगुणोपासना की जरूरत हुई। इस कमी को पूरा करने वाले 'सूर' और 'तुलसी' थे। 'सूर' ने कृष्ण की लीलाओं के चित्ररण द्वारा भगवान के मनोमुग्धकारी स्वरूप को जनता के सम्मुख उपस्थित किया और 'तुलसी ने मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम की लीलाओं का कीर्तन कर पथ भ्रष्ट मानवता को एक आदर्श जीवन और पारिवारिक मर्यादा की सुन्दर झांकी दिखलाई। इन दो महाकवियों ने अपनी अलौकिक प्रतिभा और अपूर्व काव्य शक्ति द्वारा हमारे साहित्य का जो शृङ्गार किया है वह हमारे साहित्य सौभाग्य की अमर सम्पत्ति है। कविवर रहीम की

रचनाएं हिन्दू और मुसलिम दोनों संसकृतियों के परस्पर समन्वय से उत्पन्न होने वाले चमत्कार का उदाहरण है।

हमारी कविता का आधुनिक युग भारतेंदु हरिश्चन्द्र से प्रारम्भ होता है। इनसे पहले की कविता अधिकांश में श्रृङ्गारमयी थी। विलासिता के वातावरण में पले हुए रीति काल के कवि मानव के बाह्य सौन्दर्य से आगे झांकने में असमर्थ थे। जीवन की मनोहरता के इन उपासकों की दृष्टि में सौन्दर्य आत्मा की सम्पत्ति न होकर केवल शरीर की सम्पत्ति रह गया था। प्रेम की पवित्र भावना ऐन्द्रिय लोलुपता में बदल गई थी। प्रेम और वासना में कोई अन्तर ही नहीं रह गया था। विषय के साथ साथ वर्णन भी चमत्कार-सून्य हो चुका था। वही नायक नायिका के शरीर सौन्दर्य का वर्णन और उसी पुराने ढंग पर। आखिर साहित्य के पतन की यह दशा कब तक रह सकती थी? परिवर्तन हुआ और उसके साथ नयी नयी प्रवृत्तियों को जन्म मिला। 'भारतेन्दु' इस पुरानी काव्य-पद्धित के प्रति विद्रोह की भावना लेकर साहित्य-क्षेत्र में प्रविष्ट हुए। उन्होंने पुरानी लकीर पीटने वाले कवि समाज का ध्यान नवीन और सामयिक विषयों की ओर आकर्षित किया। तब से राष्ट्र राष्ट्रभाषा, समाज की दशा और उसका सुधार, प्रकृति, मानव और इन दोनों का परस्पर सम्बन्ध आदि अनेक नये नये विषय काव्य में आने लगे।

भारतेन्दु के बाद काव्य की भाषा के सम्बन्ध में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेजी की सत्प्रेरणा से और उन्हीं के नेतृत्व में आन्दोलन हुआ, जिसके फलस्वरूप ब्रज-भाषा-काव्य की गति सदैव के लिए धीमी पड़ गई और खड़ी बोली गद्य और पद्य दोनों का समान रूप से एक मात्र भाषा स्वीकार की

गई। इस क्रान्ति के प्रथम प्रवर्तकों में श्रीधर पाठक; अयोध्या सिंह उपाध्याय (हरिऔध) और नाथूराम शंकर का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। हरिऔध जी के प्रिय प्रवास ने तो भाषा' विषय छन्द और शैली—सभी दृष्टियों से साहित्य क्षेत्र में एक उथल पुथल मचा दी थी। भाषा को पूर्णतया आधुनिक स्वरूप देने में कविवर मैथिली शरण गुप्त जी का विशेष हाथ है। गुप्त जी की भाषा और विषय दोनों ही जन-साधारण की कल्पना को उत्तेजना देने में सफल साधन हुए। राष्ट्रीय आर्य गौरव और देश प्रेम से सराबोर इन की रचनाओं ने समाज के सम्मुख तुलसी की तरह लोक संग्रह की भावना से परिवारिक मर्यादा का सुन्दर स्वरूप उपस्थित किया।

हमारे आधुनिक काव्य की विशेषताओं में रहस्यवाद और छायावाद का प्रमुख स्थान है। ये दोनों 'वाद' जयशंकर प्रसाद सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला और सुमित्रानन्दन पंत""इस त्रिमूर्ति की अमर देन है। इन दोनों वादों में परस्पर कोई बहुत भेद नहीं, एक दूसरे का विकाश और रूपान्तर है। रहस्यवाद छायावाद से ऊपर की भावना है उसी का विकसित और उन्नत स्वरूप है। छायावादी कवि प्रकृति और मानव—दोनों में एकरसता का अनुभव करता है। जड़ पदार्थ में भी मानवी भावनाओं का आरोप कर उनके साथ आत्मीयता का प्रदर्शन करता है। वह ससीम में आसीम की ओर प्रत्यक्ष में परोक्ष की सत्ता का अनुभव करता है, और रहस्यवादी कवि उस परोक्ष सत्ता के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करने का यत्न करता है। परोक्ष के इस मधुर मिलन के लिए वह बेचैन रहता है, अपने हृदय में अभाव; वेदना और व्यथा की

ज्वाला लिए फिरता है। छायावादी रचनाओं में दार्शनिकता के साथ साथ कल्पना की मात्रा अधिक रहती है और रहस्यावादी रचनाओं में गम्भीर चिन्तन के साथ साथ अनुभूति की इस नयी धारा के प्रवर्तक होने के अतिरिक्त इन तीनों कवियों ने काव्य की प्रचलित रूढ़ियों के प्रति भी उग्र विद्रोह किया। भावों की नवीनता के साथ साथ छन्दों की स्वतन्त्रता का भी उद्‌घोष किया। अतुकान्त कविता जिसका श्री गणेश संस्कृत के ढंग पर हरिऔध जी कर चुके थे अब फिर से नवीन मनोरम और चमत्कार पूर्ण वेश में सामने आई। कुछ दिनों तक छन्दों की इस स्वच्छन्दता का विरोध हुआ, परन्तु इन कवियों की मौलिक प्रतिभा और अनूठी काव्य-शक्ति ने धीरे धीरे आलोचकों को शान्त कर दिया। सियाराम शरण गुप्त और महादेवी वर्मा इस धारा के अन्य प्रमुख कवि हैं। सियाराम जी की रचनाएं गम्भीर दार्शनिकता के साथ साथ भाषा की सरलता लिये हुए हैं, दुरूहता के दोष से पूर्ण तया विमुक्त हैं। महादेवी वर्मा जी के काव्य में स्त्री-स्वभाव-सुलभ कोमलता की प्रचुरता है, निराशा और वेदना का जितना मर्म स्पर्शी चित्रण इनकी रचनाओं में हो पाया है अन्यत्र नहीं हरिकृष्ण प्रेमी जी भी वेदनाप्रधान कवि हैं। इनकी कविता का जन्म ही करुण वेदना तथा अभाव से हुआ है। इनके काव्य में दुखों को अपना कर सुख प्राप्त करने की सुन्दर दार्शनिकता के दर्शन होते हैं। रहस्यवाद तथा समाजवाद सम्बन्धी इनकी रचनाएं काफी प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी हैं। भाषा की सरलता इनकी विशेषता है। हिन्दी में बहुत कम कवि ऐसे हैं जो भावा गम्भीर्य के साथ साथ प्रेमी जी की सरलता को निभा सकते हों। रूढ़िवाद को पद-दलित कर बुद्धिवाद की स्थापना

करने वाले तर्क कुशल कवियों में उदयशंकर भट्ट जी का आदरणीय स्थान है। ये यथार्थवादी हैं। सत्य का जैसा स्वरूप देखते हैं वैसा ही उसका प्रतिपादन करने में विश्वास रखते हैं ईश्वर का सहारा लिये बिना अपने आपको ऊपर उठाने की मानव की क्षमता में इनका विश्वास अटल है भगवान ने न आज तक दलितों के लिये कुछ किया है और न भविष्य में उसके कुछ करने की सम्भावना है। ऐसे विचारों ने इनमें संसार के दम्भ पूर्ण व्यवहार का केवल पुरुषार्थ से प्रतिकार करने का बल भी दिया है।

इनके अतिरिक्त डा० वर्मा, बच्चन, वियोगी, नवीन, दिन-कर, सुधीन्द्र द्विज, मिलिन्द, अञ्चल, अश्क, अज्ञेय, सोहन लाल द्विवेदी आदि अनेक कवि हैं जो अपनी प्रतिभा के अनु-सार हिन्दी काव्य-साहित्य का सुन्दर शृंगार कर रहे हैं। इच्छा रखते हुए भी स्थानाभाव से हम इनकी रचनाओं को पाठकों के सम्मुख नहीं रख सके, इसका हमें खेद है।

अन्त में उन सब कवियों का मैं आभार स्वीकार करता हूं जिनकी रचनाओं का मैंने इस संग्रह में प्रयोग किया है। मैं हिन्दी तथा संस्कृत के धुरन्धर विद्वान तथा धर्मज्ञ सेंट स्टीफन्स कालेज देहली में संस्कृत तथा हिन्दी विभाग के मुख्याध्यक्ष, परमादरणीय महामहोपाध्याय श्री पं० लक्ष्मीधर जी शास्त्री, एम० ए० एम० ओ एल० के प्रति कृतज्ञता का प्रदर्शन करना अपना परम प्रिय कर्तव्य समझता हूं, जिन्होंने इस संग्रह की प्रतिलिपि का निरीक्षण कर अपने बहुमूल्य परामर्श से सम्पादक को कृतार्थ किया है।

सरनदास भनोत

विषय-सूची

कबीर

भक्ति काव्य की निर्गुणधारा के कवियों में कबीर का स्थान बहुत ऊंचा है। रहस्यवादी कवियों में ये सर्वप्रधान और सर्वप्रथम माने जाते हैं। इनकी जीवन-कथा के सम्बन्ध में प्रमाणिक रूप से बहुत कम मालूम है। जनश्रुति के अनुसार यह बात प्रचलित है कि इनका जन्म काशी की एक विधवा ब्राह्मणी से हुआ था। वह लोकनिन्दा के भय से नवजात शिशु को 'लहरतारा' तालाब के समीप छोड़ आई। भाग्यवश नीरु नाम का जुलाहा अपनी पत्नी नीमा के साथ उस मार्ग से गुजरा। नवजात शिशु को इस दशा में पड़े देखकर इस दम्पति का हृदय दया से द्रवित हो उठा। वे बालक को उठाकर घर ले आये और उनका पालन पोषण किया। यही बालक आगे चलकर महात्मा कबीर के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

इनका जन्म सम्वत् १४५६ और मृत्यु सम्वत् १५७५ में मानी जाती है।

कबीर का युग धर्मान्धता कट्टरता और संघर्ष का युग था। हिन्दू और मुसलमान दोनों धर्म की वास्तविक सत्ता से विमुख होकर केवल आडम्बर-प्रियता को ही धर्मतत्व समझने लगे थे। परस्पर प्रेम और शान्ति का साधन न होकर धर्म केवल विद्वेष और अशान्ति का कारण हो रहा था। ऐसे युग में एक ऐसी व्यक्ति विशेष की आवश्यकता थी, जो सिरफुटौवल पर

---

१ "चौदह सौ पचपन साल गए, चन्द्र वार एक ठाठ ठए।
जेठ सुदी वर साइत को पूरनमासी प्रगट भए॥"

२ "संवत् पन्द्रहसौ पछत्तरा, कियो मगहर को गवन।
माघ सुदी एकादसी, रलौ पवन में पवन॥"

तुली हुई दोनों जातियों को परस्पर प्रेम और सहिष्णुता का सदुपदेश दे सके। कबीर ने इस अभाव को पूरा किया। ये हिन्दू-मत और इस्लाम दोनों की गहराई तक पहुंच चुके थे; आचार्य रामानन्द और शेखतकी के संसर्ग से इन्होने दोनों का बहुत अच्छी तरह परिशीलन किया था ये दोनों धर्म के मूल-तत्वों की एकता में बिश्वास रखते थे—राम और रहीम में पूर्ण अभेद का अनुभव करते थे जाति पाँति के बन्धनों से इन्हें घोर घृणा थी। मूर्तिपूजा, वहुदेवोपासना आदि में इनकी अवस्था नहीं थी। नमाज और रोजे की उपादियता में इनका विश्वास शिथिल हिंसा से इन्हें बहुत नफरत थी। ये आचरण की सरलता निर्व्याजता तथा शुद्धि में अटल विश्वास रखते थे। अहिंसा और हिन्दू मुसलिम एकता के ये सबल पक्षपाती थे—ये हैं धर्म सम्बन्धी इनके विचार ये हैं इनकी कविता का अमर संदेह कौन नहीं जानता कि घृणा और विद्वेष की ज्वाला में जलती हुई आज की मानवता इस सन्देह के लिये कितना तड़प रही है।

अपने हाथ से इन्होंने कुछ नहीं लिखा। इनकी जितनी बाणी मिलती है वह सब इनके शिष्यों द्वारा सँग्रहीत अथवा लिखित हैं। यों तो 'सुख निधान' गोरख नाथ की गोष्ठी, 'रामानन्द की गोष्ठी' होली, रेखता' बारह मासा, रमैनी' साखी, चांचर, आदि छोटे छोटे अनेक ग्रन्थ इनके नाम से प्रसिद्ध हैं, परन्तु 'बजिक' और 'आदि ग्रन्थ' नाम के पदसंग्रहों का कबीर पथियों में विशेष आदर हैं।

निरक्षर होते हुये भी कबीर एक आदरणीय कवि थे। इनकी कविता में परिष्कृतता भले ही न हो, किन्तु बसमें स्वाभाविकता, सरलता, गम्भीरता तथा अनभूति की प्रचुर मात्रा है और एक सफल काव्य के लिये यही चीजें अपेक्षित हैं।

साखी

आदि नाम पारस अहै मन है मैला लोह । १
परसत ही कंचन भया छूटा बंधन मोह ॥
जबहिं नाम हिरदे धरा भया पाप का नास ।
मानो चिनगी आग कों परी पुरानी घास ॥ २
नाम बिना वे काम है छप्पन कोटि बिलास ।
का इन्द्रासन बैठिबो का बेकुण्ठ निवास ॥ ३ ॥
लूट सकै तो लूट ले सत्त नाम की लूट ।
पीछे फिर पछताहुगे प्रान जाहिं जब छूट ॥ ४ ॥
जब लग नाता जगत का तब लग भक्ति न होय ।
नाता तोड़े हरि भजै भक्ति कहावे सोय ॥ ५ ॥
कामी क्रोधी लालची इनमें भक्ति न होय ।
भक्ति करे कोई सूरमा जाति बरन कुल खोय ॥ ६ ॥
लगी लगन छूटे नहीं जीव चोंच जर जाय ।
मीठा कहा अगार में जाहि चकोर चबाय ॥ ७ ॥
प्रेम न बाड़ी ऊपजै प्रेम न हाट बिकाय ।
राजा परजा जेहि रुचै सीस देय लै जाय ॥ ८ ॥
छिनहिं चढ़ै छिन उतरै सो तो प्रेम न होय ।
अघट प्रेम पिंजर बसै प्रेम कहावै सोय ॥ ९
जब मैं था तब गुरु नहीं अब गुरु हैं हम नाहिं ।
प्रेम गली अति सांकरी तामें दो न समाहिं ॥ १० ॥

जा घट प्रेम न संचरैं सो घट जान मसान ।
जैसे खाल लोहार की सांस लेत बिनु प्राण ॥ ११ ॥
हरि से तू जनि हेत कर कर हरिभजन से हेत ।
माल मुलुक हरि देत हैं हरिजन हरिहिं देत ॥ १२ ॥

दुख में सुमिरन सब करें सुख में करे न कोय ।
जो सुख में सुमिरन करे तो दुख काहे को होय ॥ १३ ॥
सुमिरन सों मन लाइए जैसे नाद कुरंग ।
कहै कबीर बिसरै नहीं प्रान तजै तेहि संग ॥ १४ ॥

माला फेरत जुग भया फिरा न मन का फेर ।
कर का मन का डारि दे मन का मनका फेर ॥ १५ ॥
माला तो कर में फिरे जीभ फिरे मुख मांहिं ।
मनुवां तो दहुं दिसि फिरै यह तो सुमिरन नाहिं ॥ १६ ॥

साधू गांठ न बांधई उधर समाता लेय ।
आगे पीछे हरि खड़े जब मांगे तब देय ॥ १७ ॥
अंतरजामी एक तुम, आतम के आधार ।
जो तुम छोड़ो हाथ तो, कौन उतारे पार ? ॥ १८ ॥

मेरा मुझ में कुछ नहीं जो कुछ है सो तोर ।
तेरा तुझको सौंपते क्या लागत है मोर ॥ १९ ॥
गुरु गोविन्द दोऊ खड़े काके लागों पांय ।
बलिहारी गुरु आपने गोविंद दियो बताय ॥ २० ॥

बलिहारी गुरु आपने घड़ि घड़ि सौ सौ बार ।
मानुष से देवत किया करत न लागी बार ॥ २१ ॥
कबिरा ते नर अंध हैं गुरु को कहते और ।
हरि रूठे गुरु ठौर है गुरु रूठे नहिं ठौर ॥ २२ ॥

कविरा हरि के रूठते गुरु के सरने जाय ।
कह कबीर गुरु रूठते हरि नहिं होत सहाय ॥ २३ ॥
सब बन तो चन्दन नहीं सूरा का दल नाहिं ।
सब समुद्र मोती नहीं यों साधू जग माहिं ॥ २४ ॥

साध कहावन कठिन है, लम्बा पेड़ खजूर ।
चढ़ै तो चखे प्रेम रस गिरे तो चकना चूर ॥ २५ ॥
गांठी दाम न बांधई नहिं नारी सों नेह ।
कह कबीर ता साधु की हम चरनन की खेह ॥ २६ ॥

वृक्ष कबहुं नहिं फल भखैं नदी न संचै नीर ।
परमारथ के कारने साधुन धरा शरीर ॥ २७ ॥
जाति न पूछो साधु की पूछि लीजिए ज्ञान ।
मोल करो तरवार का पड़ा रहन दो म्यान ॥ २८ ॥

साधू भूखा भाव का धन का भूखा नाहिं ।
धन का भूखा जो फिरे सो तौ साधू नाहिं ॥ २९ ॥
केसन कहा बिगारिया जा मूंड़ो सौ बार ।
मन को क्यों नहिं मूड़ियो जा में विषय विकार ॥ ३० ॥

कविरा संगत साधु की ज्यों गंधी का बास ।
जो कुछ गंधी दे नहीं तौ भी बास सुबास ॥ ३१ ॥
मथुरा भावैं द्वारिका भावैं जो जगनाथ ।
साधु संगति हरि भजन बिनु कछु न आवै हाथ ॥ ३२ ॥

कबिरा गर्व न कीजिये काल गहे कर केस ।
न जानों कित मारि है क्या घर क्या परदेस ॥ ३३ ॥
पानी केरा बुदबुदा अस मानुस की जात ।
देखत ही छिप जायगा ज्यों तारा परभात ॥ ३४ ॥

रात गंवाई सोय कर दिवस गंवाया खाय ।
हीरा जनम अमोल था कोड़ी बदले जाय ॥ ३५ ॥
दुर्लभ मानुष जनम है देह न बारँबार ।
तरवर ज्यों पत्ता झड़े बहुरि न लागे डार ॥३६ ॥

आये हैं सो जायेंगे राजा रंक फकीर ।
इक सिघांसन चढ़ि चले इक बंधि जात जंजीर ॥ ३७ ॥
इक दिन ऐसा होयगा कोउ काहू का नाहिं ।
घर की नारी को कहै तन की नारी नाहिं ॥ ३८ ॥

जो तो को कांटा बुवै ताहि बोव तू फूल ।
तोहि फूल को फूल हैं वाको हैं तिरसूल ॥ ३९ ॥
दुर्बल को न सताइए जाकी मोटी हाय ।
बिना जीव की स्वांस से लोह भसम है जाय ॥ ४० ॥

ऐसी बानी बोलिए मन का आपा खोय ।
औरन को सीतल करै आपहुं सीतल होय ॥ ४१ ॥
मांगन मरन समान है मति कोई माँगो भीख ।
माँगन ते मरना भला यह सत-गुरु की सीख ॥ ४२ ॥

मधुर वचन है औषधी कटुक वचन हैं तीर ।
स्रवन द्वार है संचरै सालै सकल सरीर ॥ ४३ ॥
न्हाय धोय क्या भया जो मन मैल न जाय ।
मीन सदा जल में रहे धोये बास न जाय ॥ ४४ ॥

पंडित और मसालची दोनों सूझै नाहिं ।
औरन को कर चांदनी आप अंधेरे मांहि ॥ ४५ ॥
कुटिल बचन सबसे बुरा जारि करै तन छार ।
साध बचन जल रूप है बरसै अमृत धार ॥ ४६ ॥

तिनका कबहुं न निंदिए जो पांवन तर होय ।
कबहुं उडि आंखिन परै पीर घनेरी होय ॥ ४७ ॥

दोष पराया देख करि चलै हसत हसँत ।
अपने याद न आवई जाको आदि न अन्त ॥ ४८ ॥

सीलवंत सबतें बड़ा सब रतनन की खानि ।
तीन लोक की संपदा रही सील में आनि ॥ ४९ ॥

ज्ञानी ध्यानी संजमी दाता सूर अनेक ।
जपिया तपिया बहुत हैं सीलवंत कोउ एक ॥ ५० ॥

छिमा बड़न को चाहिए छोटन को उत्पात ।
कहा विष्णु को घटि गयो जो भृगु मारी लात ॥ ५१ ॥

जहां दया तहं धर्म है जहां लाभ तहं पाप ।
जहां क्रोध तहं काल है जहां छिमा तहं आप ॥ ५२ ॥

जो जल बाढ़ै नाव में घर में बाढ़ै दाम ।
दोऊ हाथ उलीचिए यही सज्जन को काम ॥ ५३ ॥

हाड़ बड़ा हरि भजन कर द्रव्य बड़ा कछु देय ।
अकल बड़ी उपकार कर जीवन का फल येह ॥ ५४ ॥

चाह गई चिन्ता मिटी मनुवां बेपरवाह ।
जिन को कछू न चाहिए सोई साह साह ॥ ५५ ॥

गोधन गजधन बाजिधन और रतनधन खान ।
जब आवै सन्तोष धन सब धन धूरि समान ॥ ५६ ॥

धीरे धीरे रे मना धीरे सब कछु होय ।
माली सींचै सौ घड़ा ऋतु आये फल होय ॥ ५७ ॥

कबिरा धीरज के धरे हाथी मन भर खाय ।
टूक एक के कारने स्वान घरै घर जाय ॥ ५८ ॥

जिन ढूंढा तिन पाइया गहरे पानी पैठि ।
मैं बपुरा बूडन डरा रही किनारे बैठि ॥ ५९ ॥
मारग चलते जो गिरै वाको नाहीं दोस ।
कह कबीर बैठा रहै ता सिर करडे कोस ॥ ६० ॥

दया भाव हिरदे नहीं ज्ञान कथै वेहद ।
ते नर नरकहिं जाहिगे सुनि सुनि साखी सब्द ॥ ६१ ॥
दया कौन पर कीजिए का पर निर्दय होय ।
सांई के सब जीव हैं, कीरी कुंजर दोय ॥ ६२ ॥

साँच बराबर तप नहीं झूट बराबर पाप ।
जाके हिरदे सांच है ता हिरदे गुरु आप ॥ ६३ ॥
मन के मते न चालिये मन के मते अनेक ।
जो मन पर असवार है सो साधू कोई एक ॥ ६४ ॥

ऐसी गति ससार की ज्यों गाडर की ठाट ।
एक पड़ा जेहि गाड़ में सबै जांय तेहि बाट ॥ ६५ ॥
सुख के माथे सिल परै नाम हिरदे से जाय ।
बलिहारी वा दुख की पल पल राम रटाय ॥ ६६ ॥

करु बहियां बल आपनी छांड़ बिरानी आस ।
जाके आंगन नदी है सो कस मरै पियास ? ॥ ६७ ॥
एकै साधे सब सधै सब साधे सब जाय ।
जो तू सेवै मूल को फूलै फलै अघाय ॥ ६८ ॥

शब्द

(१)

बीत गये दिन भजन बिना रे।
बाल अवस्था खेल गंवायौ, जब जवानि तब मान किया रे ॥
काहे कारन मूल गंवायो, अजहुं न मिटी तेरे मन की तृषा रे।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, पार उतरि गये सन्त जना रे ॥

(२)

यह संसार कागद की पुड़िया, बूंद पड़े घुल जाना है।
यह संसार कांट की बाड़ी, उलझ पुलझ मर जाना है ॥
यह संसार झाड़ और झांखर, आग लगे बरि जाना है।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, सतगुर नाम ठिकाना है ॥

(३)

मन लागो मेरो यार फकीरी में।
जो सुख पावों नाम भजन में सो सुख नाहिं अमीरी में ॥
भला बुरा सब को सुनि लीजै, कर गुजरान गरीबी में
प्रेम नगर में रहनि हमारी, भलि बन आइ सबूरी में ॥
हाथ में कूंडी बगल में सोटा, चारों दिसा जगीरी में।
आखिर यह तन खाक मिलैगा, कहा फिरत मगरूरी में ॥
कहे कबीर सुनो भाई साधो, साहिब मिलै सबूरी में ॥

(४)

नाम सुमरि, पछतायगा।

पापी जियरा लोभ करत है, आज कालिह उठि जायगा॥
लालच लागी जनम गंवाया, माया, भरम भुलायगा।
धन जोबन का गरब न कीजै कागद ज्यों गलि जायगा॥
जब जम आय केस गहि पटकै, ता दिन कछु न बसायगा।
सुमिरन भजन दया नहिं कीन्ही, तो मुख चोटा खायगा॥
धरमराय जब लेखा माँगै, क्या मुख ले के जायगा।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, साध-संग तरि जायगा॥

(५)

पानी बिच मीन पियासी!
मोहि सुनि-सुनि आवत हांसी॥

आतम ग्यान बिना सब सूना, क्या मथुरा क्या कासी।
घर में बसत धरी नहिं सूझै, बाहर खोजन जासी॥
म्रिग की नाभि मांहिं कसतूरी, बन बन फिरत उदासी।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, सहज मिलै अविनासी।

(६)

लोका मति का भोरा रे।

जौ कासी तन तजै कबीरा, तौ रामहिं कहा निहोरा रे॥
तब हम वैसे अब हम ऐसे, इहै जनम का लाहा।
ज्यूँ जल में पैसि न निकसै, यूं दुरि मिल्या जुलाहा॥
राम भगति पर जाको हित चित, ताकौ अचरज काहा।
गुरु प्रसाद, साध को संगति, जग जीतै जाइ जुलाहा॥
कहै कबीर सुनहु रे संतो, भरमि परै जनि कोई।
जस कासी तस महगर ऊसर, हिरदे राम सति होई॥

सूरदास

भक्ति-काल की सगुणधारा के कृष्ण भक्त कवियों में सूरदास का स्थान अद्वितीय है। ब्रजभाषा की प्राणप्रतिष्ठा करने वाले महान् कलाकारों में इनका आसन सर्वोच्च है। इनका जन्म सं० १५४० में आगरा-मथुरा सड़क पर रुनकता (रेणुका-क्षेत्र) सामके गांव में हुआ था और मृत्यु सं० १६२० में पारासोली गाँव में। ये सारस्वत ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम रामदास था। घर में लक्ष्मी का कोप था। माता-पिता निर्धन थे। कुछ विद्वान इन्हें 'चन्दवरदाई' वंशज भाट मानते हैं।

सूरदास जी प्रज्ञाचक्षु थे। ये जन्म से अंधे थे, ऐसा स्वीकार करने में कुछ आपत्ति जान पड़ती हैं; इनके अपने द्वारा विचित्र किये हुये प्रकृति के विविध रूपों और रंगों के सजीव चित्र इस बात की पुष्टि नहीं करते। एक युवती के सौन्दर्य पर मुग्ध हो जाने पर इन्होंने अपने आप पर अत्यन्त ग्लानि का अनुभव किया था और इसके फलस्वरूप नेत्रों को दोषी ठहराते हुए उन्हें फोड़ लिया था—यह प्रसिद्धि कुछ अधिक संगत जान पड़ती है।

लगभग ४० वर्ष की आयु में इन्होंने महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य की शिष्यता स्वीकार की। उन दिनों ये एक विरक्त साधु के रूप में आगरा और मथुरा के बीच में 'गऊ घाट पर रहा करते थे। आचार्य जी ने इनकी भक्ति और प्रतिभा देख कर भागवत के आधार पर भगवान श्रीकृष्ण की पुण्य लीलाओं को पदों में गाने का इन्हें आदेश किया। 'सूरसागर' गुरुवर की इसी पुण्य-प्रेरणा का परिणाम है। भक्ति और प्रेम के इस अनूठे काव्य

में भागवत के दशम स्कन्ध की कथा का वर्णन अत्यन्त विस्तार से किया गया है, शेष स्कन्धों के कथानक की ओर केवल एक संक्षिप्त संकेत है। मुख्य रूप से इसमें कृष्ण-जन्म से लेकर इनके मथुरा जाने तक की ही कथा का वर्णन है। इस विशाल काव्य की पद संख्या सवा लाख के लगभग मानी जाती है, किन्तु उपलब्ध पदों की संख्या ५–६ हजार से अधिक नहीं। 'सूरसागर' के अतिरिक्त 'सूरसारावली' और 'साहित्यलहरी' नाम की दो रचनायें भी इनके नाम पर प्रसिद्ध हैं।

सूरदास जी भक्त कवि थे। अपने इष्टदेव की लीलाओं का कीर्तन करते समय ये अपने आप को बिल्कुल खो देते थे। इनकी भाषा की सरलता और भावमयता इसी तन्मयता की अपूर्व देन है। अधिकांश में इनकी कविता वात्सल्य, शृङ्गार, और शान्त रस-प्रधान है बाललीला और मातृहृदय का जैसा सुन्दर चित्रण हमें इनकी कविता में मिलता है, वैसा अन्यत्र नहीं। श्री वियोगी हरि के शब्दों में यदि इनका दूसरा नाम वात्सल्यरस ही रख दिया जाय तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। शृङ्गार में अधिकतर इन्होंने विप्रलम्भ का वर्णन किया है। श्रीकृष्ण के मथुरा चले जाने पर गोपियों की विरह-दशा का चित्रण अत्यन्त मार्मिक बन पड़ा है। उद्धव और गोपियों के संवाद में तो मानो कवि ने अपना हृदय खोल कर रख दिया है। यहां हमें कवि की सुन्दर कल्पना और अनूठी दार्शनिकता के दर्शन होते हैं। भक्ति और योग की तुलना पढ़ने योग्य चीज है।

सूरदास

(१)

अब मोहि भीजत क्यों न उबारो ?
दीनबन्धु करुनामय स्वामी, जन के दुःख निवारो ॥
ममता घटा, मोह की बूँदें, सलिता मैन अपारो।
बडत कतहुँ थाह नहि पावत, गुरुजन ओट अधारो ॥
गरजत क्रोध लोभ को नारो, सूझत कहूं न उतारो।
तसना—तड़ित चमक छन-हो छन अहनिसि यह तन जारो ॥
यह सब जल कलि मलहि गहे है बोरत सहस प्रकारो।
सूरदास पतितन को संगी विरदहि, नाथ, संभारो ॥

(२)

प्रभु, मेरे औगुन न बिचारो !
धरि जिय लाज सरन आये की रवि-सुत-त्रास-निबारौ ॥
जो गिरिपति मसि घोरि उदधि में लै सुरतरु निज हाथ।
ममकृत दोष लिखैं बसुधा भरि तऊ नहीं मिति नाथ ॥
कपटी कुटिल कुचालि, कुदरसन अपराधी मतिहीन।
तमहिं समान और नहिं दूजो जाहि भजो ह्वै दीन ॥
जोग जग्य जप तप नहिं कीन्हौ, वेद विमल नहिं भाख्यो।
अति रस लुब्ध स्वान जूटनि ज्यों अनतै ही मन राख्यो
जिहिं जिहिं जोनि फिरों संकट बस, तिहिं तिहिं यहै कमायो।
काम-क्रोध-मद लोभ ग्रसित ह्वै बिषै परम विष खायो ॥
अखिल अनन्त दयालु दयानिधि अघमोचन सुखरासि।
भजन-प्रताप नाहिंनै जान्यौं, बध्यो काल की फाँसी ॥
तुम सर्बग्य सबै विधि समरथ, असरन-सरन मुरारि।

मोह-समुद्र सूर बूड़त है लीजै भुजा पसारि ॥

(३)

सबै दिन गये विषय के हेत ।
देखत ही आपुन पौ खोहो केस भये सब सेत ॥
रूंध्यो स्वांस मुख बैन न आवत चन्द्रा लगी संकेत ।
तजि गंगोदक पिये कूप-जल, पूजत गाढ़े प्रेत ॥
करि प्रमाद गोविन्द बिसारे बूड़्यो सबनि समेत ।
सूरदास, कछु खरच न लागतु कृष्ण सुमिरि किन लेत ॥

(४)

छाँढ़ि मन हरि-विमुखन को संग ।
जिनके संग कुबुद्धि उपजत है परत भजन में भंग ॥
कहा होत पय पान कराये विष नहिं तजत भुजंग ।
कागहि कहा कपूर चुरायो स्वान न्हवाये गंग ॥
खर को कहा अरगजा लेपन मरकठ भूषण अङ्ग ।
गज को कहा न्हावावे सरिता बहुरि धरै कहि छंग ॥
पाहन पतित बाँस नहिंवे धतु रीतो करत निषंग ।
'सूरदास' खल कारि कामरी चढ़त न दूजो रंग ॥

(५)

मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै ।
जैसे उड़ि जहाज को पंछी पुनि जहाज पै आवै ॥
कमलनैन को छांड़ि महातम और देव को ध्यावै ।
परम गङ्ग को छाड़ि पियासो दुर्मति कूप हनावै ॥
जिन मधुकर अंबुज-रस चाख्यो क्यों करील-फल खावै ।
सूरदास, प्रभु कामधेनु तजि छेरी कौन दुहावै ॥

(६)

सोभित कर नवनीत लिये ।

घुटुअन चलत रेनु तन मंडित मुख दिधि लेप कये ॥
चारु कपोल लील लोचन छवि गौरोचन को तिलक दिये ।
लट लटकन मानो मत्त मधुप गन माधुरी मधुर पिये ॥
कठुला कंठ वज्र केहरि नख राजत है सखि रुचिर हिये ॥
धन्य सूर एकौ पल यह सुख कहा भये सत कल्प जिये ॥

(७)

मैया कबहिं बढ़ेगी चोटी ।

किती बार मोहि दूध पियत भइ यह अजहूँ है छोटी ॥
तू जो कहति बल की बेनी ज्यों ह्वै है लांबी मोटी ।
काढ़त गुहत नहावत ओछत नागिन सी भ्वै लोटी ॥
काचो दूध पियावत पचि पचि देत न माखन रोटी ।
'सूर' श्याम चिर जीवो दोऊ भैया हरि हलधर की जोटी ॥

(८)

खेलन अब मेरो जात बलैया ।

जबहिं मोहि देखत लरिकन संग तबहिं खिझत बल भैया ॥
मोसो कहत तात बसदेव को देवकी तेरी मैया ।
मोल लियो कछु दे बसुदेव को करि करि जतन बढ़ैया ॥
अब बाबा कहि कहत नंद को जसुमत को कह मैया ।
ऐसेहि कहि सब मोहि खिजावत तब उठि चलो खिसैया ॥
पीछे नन्द सुनत हैं ठाढ़े हसत हसत उर लैया ॥
सूर नन्द बलरामहिं धिरयो सुनि मन हरख कन्हैया ।

(९)

मैया मेरी, मैं नहिं माखन खायो।
भोर भयो गैयन के पीछे मधुबन मोहि पठायो॥
चार पहर बन्शीबट भटक्यो साँझ परे घर आयो।
मैं बालक बहियन का छोटी छींका कहि बिधि पायो॥
ग्वाल बाल सब बैर परे हैं बरबस मुख लपटायो।
तू जननी मति की अति भोरी इनके कहे पतियाओ॥
जिय तेरे कछु भेद उपज है जान परायो जायो।
यह ले लपनी लकुट कमरिया बहुतहि नाच नचायो॥
'सूरदास' तब बिहंसि जसोदा लै उर कण्ठ लगायो।

(१०)

आज मैं गाय चरावन जैहौं।
वृन्दाबन के भांति-भांति फल अपने करतैं खैहौं॥
ऐसी अबहिं कहौं जन बारे देखौं अपनी भाँति।
तनिक तनिक पग चलिहौ कैसे आवत ह्वै है राति॥
प्रात गात गैया लै चारन घर आवत है साँझ॥
तुम्हरा कमल बदन कुम्हिलैहै रेंगत घामहिं माझ॥
तेरी सौं मोंहि घाम न लागत भूख नहीं कछु नेक।
'सूरदास; कछु कह्यौ न मानत परे आपनी टेक॥

(११)

मैया बहुत बुरौ बलदाऊ।
कहन लग्यौ, बन बड़ो तमासा सब मौंडा मिलि आऊ'
मोहू को चुपकारि गयौ लै जहां साधन बन झाऊ।
भागि चल्यौ कहि गयौ वहां से काट खाइ रे हाऊ'।
हौं डरपौं अरू रोऔं, काँपौं, कोउ नहिं धीर-धराऊ।
उनके संग न भाजि सकौं, ये भाजे जात अगाऊ॥
मासों कहत चोर तू कान्हा, आपु कहावत साहू।
सूरदास, बल बड़ौ चबाई तैसेहिं मिले सखाहू॥

(१२)

मैया मोंहि दाऊ बहुत खिझायो।
मोंसों कहत मोल कौं लीन्हौं, तूं जसमति कब जायो॥

कहा कहौं, इहिं रिस के मारे खेलन हौं नहिं जात ।
पुनि-पुनि कहत कौन है माता, को है तेरो तात ॥
गोरे नन्द जसोदा गोरी तू कत स्याम सरीर ।
चुटकी दै-दै हंसत ग्वाल सब सिखै देत बलबीर ॥
तू मोही को मारन सीखी, दाउहिं कबहुं न खीझै ।
मोहन-मुख रिस की वह बातैं, जसुमति सुनि-सुनि रीझै ॥
सुनहु कान्ह बलभद्र चबाई जनमत ही को धूत ।
सूर, स्याम मोहि गोधन की सौं, हौं माता तू पूत ॥

(१३)

जसोदा कान्ह कान्ह कै बूझै ।

फूटि न गईं तिहारी चारौं कैसे मारग सूझै ॥
इक तनु जरी जात बिनु देखे, अब तुम दीनी फूंक ।
यह छतियां मेरे कुंवर कान्ह बिनु फटि न भईं द्वै टूक ॥
धिग तुम, धिग ये चरन अहो पति अध बोलत उठि धाये ।
'सूर' स्याम-बिरहन का हम पै देन बधाई आये ॥

(१४)

ऊधो मन नाहीं दस-बीस ।

एक हुतो गयौ स्याम संग, को अवराधै ईस ॥
सिथिल भईं सबहीं माधौ बिनु जथा देह बिनु सीस ।
स्वासा अटकि रह्यो आसा लगि जीवहिं कोटि बरीस ॥
तुम तौ सखा स्यामसुन्दर के, सकल जोग के ईस ।
'सूरदास' रसिक को बतियां पुरवौ मन जगदीस ॥

(१५)

अँखियाँ हरि-दरसन की भूखी ।

कैसे रहैं रूप-रस रांची ये बतियां सुनि रूखी ॥
अवधि गनत इकटक मग जोवत तब ये तो नहिं भूखी ।

अब इन जोग सँदेसनि ऊधो, अति अकुलानी दूखी।
बारक वह मुख फेरि दिखावहु दुहि पय पिवत पतूखी।
'सूर' जोग जनि नाव चलावहु ये सरिता है सूखी॥

(१६)

ऊधो हमहिं कहा समझावहु।
पसु, पँछी, सुरभी ब्रज की सब देख स्रवन सुनि आवहु॥
तृन न चरत गो, पिवत न सुत पय, ढूंढत बन बन डोलैं।
अलि कोकिल जे आदि विहंगम, भीत भयानक बोलैं॥
जमुन भई तन स्याम, स्याम बिनु, अन्ध छीन जे रोगी।
तरुवर पत्र बसन न संभारत, बिरह बृच्छ भये योगी॥
गोकुल के सब लोग दुखित हैं, नीर बिना ज्यों मीन।
"सूरदास प्रभु प्रान न छूटत, अवधि आस के लीन॥

(१७)

ब्रज की बिरही लोग दुखारे।
बिन गोपाल ठगे-से ठाढ़े अति दुर्बल तनु कारे॥
नन्द जसोदा मारग जोवत नित उठि सांझ-सबारे।
चहुं दिसि कान्ह कान्ह के टेरत अंसुअन बहत पनारे॥
गोपी गाइ ग्वाल गो-सुत अतिही दीन बिचारे।
'सूरदास' प्रभु बिन यों सोभित चन्द्र बिना ज्यों तारे॥

(१८)

प्रीति करि काहू सुख न लह्यौ।
प्रीति पतङ्ग करी दीपक सों, आपै देह दह्यौ॥
अलि-सुत प्रीति करी जल-सुत सों, संपुट माँझ गह्यौ।
सारंग जो प्रीति करी नाद सों, सनमुख बान सह्यौ॥
हम जो प्रीति करी माधव सों, चलत न कछू कह्यौ।
'सूरदास' प्रभु बिन दुख-पावति नैनन नीर बह्यौ॥

तुलसीदास

तुलसीदास जी हिन्दी साहित्य के प्रतिनिधि कवि हैं। जनता के हृदय पर जितना अधिकार इन्हें प्राप्त हुआ है उतना भारत के किसी कवि को नहीं।

इनका जन्म सम्वत् १५८९ में बांदा ज़िले के राजापुर नाम के गाँव में हुआ था। ये सरयूपारीण ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम आत्माराम और माता का नाम हुलसी* था। जनश्रुति के अनुसार इनका जन्म एक अमंगल नक्षत्र में हुआ था जिस के कारण इन के माता पिता ने इनके पालन-पोषण में बहुत उपेक्षा की। कुछ बड़ा होने पर ये बाबा नरसिंहदास जी के सम्पर्क में आगये और उन्हीं के पास काशी में पँचगङ्गा धाम पर रहने लगे। वहाँ इन्होंने उस समय के प्रसिद्ध विद्वान् महात्मा शेष सनातन जी के चरणों में बैठकर १५ वर्ष तक खूब विद्याभ्यास किया और वेद, वेदान्त, दर्शन, इतिहास, पुराण आदि अनेक विषयों में सुयोग्यता प्राप्त की। इसके बाद ये अपनी जन्मभूमि राजापुर को लौटे। वहां 'रत्नावली' नाम की एक सुशील और सुयोग्य कन्या से इनका विवाह हुआ। पत्नी में इनकी बड़ी आसक्ति थी। एक बार वह इनसे बिना पूछे अपने पिता के यहाँ चली गई, ये भी उसके पीछे ससुराल पहुंच गये। लज्जित हो रत्नावली ने इन्हें फटकार सुनाते हुये कहा :—

लाज न लागत आपको दौरे आएहु साथ।
धिक् धिक् ऐसे प्रेम को कहा कहौं मैं नाथ॥

---

*सुरतिय, नरतिय, नार तिय, सब चाहति अस होय।
गोद लिये हुलसी फिरैं, तुलसी सो सुत होय॥

रहीम

अस्थि-चर्म-मय देह मम ता में जैसी प्रीति।
तैसी लौ श्रीराम मंह होति न तौ भवभीति॥

पत्नी की फटकार इनके लिए बरदान साबित हुई। इसने इनकी जीवन दिशा को बिल्कुल बदल दिया। इनके प्रेम की धारा संसार के विषयों से विमुख होकर अब भगवान के चरणों की ओर बहने लगी। इस प्रकार विरक्त हो जाने पर इन्होंने कई वर्ष तक तीर्थ भ्रमण किया और स्थायी रूप से काशी में रहने लगे। सम्वत् १६८० श्रावण श्यामा तीज को असी गङ्गा के संगम पर इन्होंने अपने शरीर का त्याग किया। 'रामचरित-मानस' इनकी सबसे प्रसिद्ध और श्रेष्ठ रचना है। इसमें जनता के आराध्यदेव मर्यादापुरुषोत्तम भगवान राम की लीलाओं का मनोरम चित्रण है। इसी कारण से जनता के हृदय में 'मानस' के प्रति धर्मग्रन्थ का सा आदर है। साहित्यिक दृष्टि से भी यह बृहद् ग्रन्थ काव्य कला का अनूठा चमत्कार है। इसमें कवि ने अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा द्वारा मानवी जीवन के व्यापक सौन्दर्य, और उसकी मर्यादा का हृदय-हारी वर्णन किया है, प्राकृतिक सौंदर्य, प्रकृति और मानव के परस्पर समन्वय का मनोहर चित्र खींचा है। जीवन का कोई पहलू ऐसा नहीं जिस पर इस महान् कलाकार ने अपनी सुलझी हुई कूची का प्रयोग न किया हो।

इसके अतिरिक्त इन्होंने और भी अनेक काव्यों की रचना की है। उनमें से मुख्य ये हैं—विनय पत्रिका, बरवैरामायण, गीतावली, रामाज्ञा, कृष्णगीतावली, वैराग्य-सन्दीपनी, रामलला नहछू आदि।

संवत सोरह सौ असी असी गंग के तीर।
श्रावण श्यामा तीज शनि तुलसी तज्यो शरीर॥

बेनीमाधवदास

भरत-कौशल्या-सम्वाद

भरतहिं देखि मातु उठि धाई ।
मुरुछित अवनि परी झइं आई ॥
देखत भरतु बिकल भए भारी ।
परे चरन तनदसा बिसारी ॥
मातु तात कहं देहि देखाई ।
कहं सिय रामु लषनु दोउ भाई ॥
कइकइ कत जनमी जग मांझा ।
जौं जनमित भइ काहे न बाँझा ॥
कुलकलंकु जेहि जनमेउ मोही ।
अपजसभाजन प्रिय-जन-द्रोही ॥
को त्रिभुवन मोहिं सरिस अभागी ।
गति असि तोरि मातु जेहि लागी ॥
पितु सुरपुर, बन रघुबर-केतू ।
मैं केवल सब अनरथ हेतू ॥
धिग मोहि भयेउं बेनु बन-आगी ।
दुसह - दाह - दुख-दूषन-भागी ॥
मातु भरत के बचन मृदु सुनि पुनि उठी संभारि ।
लिये उठाइ लगाइ उर लोचन मोचति बारि ॥
सरल सुभाय माय हिय लाए ।
अतिहित मनहुं राम फिरि आए ॥
भेंटेउ बहुरि लषन लघु-भाई ।
सोकु सनेहु न हृदय समाई ॥
देखि सुभाउ कहब सब कोई ।
राममातु अस काहे न होई ॥

माता भरतु गोद बैठारे ।
आंसु पोंछि मृदु बचन उचारे ॥
अजहुँ बच्छु, बलि, धीरज धरहू ।
कुसमउ समुझि सोक परिहरहू ॥
जनि मानहु हिय हानि गलानी ।
कालकरम गति अघटित जानी ॥
काहुहि दोस देहु जनि ताता ।
भा मोहि सब विधि बाम विधाता ॥
जो एतेहु दुख मोहि जिआवा ।
अजहुं का जाने का तोहि भावा ॥
पितु आयुसु भूषन बसन तात तजे रघुबीर ।
विसमय हरष न हृदय कछु पहिरे बलकल चीर ॥
मुख प्रसन्न मन रंग न रोषू ।
सब कर सब विधि कर परितोषू ॥
चले बिपिन सुनि सिय संग लागी ।
रहै न राम चरन अनुरागी ॥
सुनतहि लषनु चले उठि साथा ।
रहहिं न जतन किये रघुनाथा ॥
तब रघुपति सबही सिरु नाई ।
चले संग सिय अरु लघु भाई ॥
राम लषनु सिय बनहिं सिधाये ।
गयउं न संग प्रान पठाये ॥
एहु सबु भा इन्ह आँखिन्ह आगे ।
तउ न तजा तनु जीव अभागे ॥
मोहि न लाज निज नेहु निहारी ।
राम सरिस सुत मैं महतारी ॥

जिअइ मरइ भल भूपति जाना ।
मोर हृदय सत-कुलिस-समाना ॥
कौसिल्या के बचन सुन भरतसहित रनिवासु ।
व्याकुल बिलपत राजगृह मानहुँ सोक-निवासु ॥
बिलपहिं बिकल भरत दोउ भाई ।
कौसल्या लिये हृदय लगाई ॥
भांति अनेक भरतु समुझाये ।
कहि विवेकमय बचन सुनाये ॥
भरतहु मातु सकल समझाई ।
कहि पुरान श्रुति कथा सुनाई ॥
छल विहीन सुचि सरल सुबानी ।
बोले भरत जोरि जुग पानी ॥
जे अघ मातुपितासुत मारें ।
गाइगोठ महि सुर पुर जारें ॥
जे अघ तिय-बालक बध कीन्हें ।
मीत महीपत माहुर दीन्हें ॥
जे पातक उपपातक अहहीं ।
करम बचन मन भव कवि कहहीं ॥
ते पातक मोहि होहु बिधाता ।
जौं एहु होइ मोर मत माता ॥
जे परिहरि-हरि हंस चरन भजहिं भूतगन घोर ।
तेहि कै गति मोहि देउ बिधि जौं जननी मत मोर ॥
बेचहिं बेदु धरम दुहि लेहीं ।
पिसुन पराय पाप कहि देहीं ॥
कपटी कुटिल कलहप्रिय क्रोधी ।
वेदबिदूषक बिस्वबिरोधी ॥

लोभी लपट लोलुपचारा ।
जे ताकहिं परधनु परदारा ॥
पावौं मैं तिन्ह कै गति घोरा ।
जौं जननी एहु संमत मोरा ॥

जे नहिं साधुसंग अनुरागे ।
परमारथपथ विमुख अभागे ॥
जे न भजहिं हरि नरतनु पाई ।
जिन्हहिं न हरि हर सुजसु सुहाई ॥

तजि श्रुतिपन्थ बामपथ चलहीं ।
बंचक बिरचि बेषु जगु छलहीं ॥
तिन्ह कै गति मोहि संकर देऊ ।
जननी जौं एहु जानौ भेऊ ॥

मातु भरत के बचन सुनि साँचे सरल सुभाय ।
कहति रामप्रिय तात तुम्ह सदा बचन मन काय ॥

राम प्रान ते प्रान तुम्हारे ।
तुम रघुपतहिं प्रान तें प्यारे ॥

बिधु बिष चवै स्रवै हिमु आगी ।
होइ बारिचर बारिबिरागी ॥
भए ज्ञान बरु मिटै न मोहू ।
तुम्ह रामहिं प्रतिकूल न होहू ॥

मत तुम्हार एहु जग कहहीं ।
सो सपनेहुं सुख सुगति न लहहीं ॥
अस कहि मातु भरतु हिय लाए ।
थनपय स्रवहिं नयन जल छाए ॥

बशिष्ठ जी का भरत से राज्य-ग्रहण करने का अनुरोध

तात बिचारु करहु मन माहीं ।
सोचुजोगु दसरथु नृपु नाहीं ॥
सोचिअ बिप्र जो बेद बिहीना ।
तजि निज धरमु बिषय-सबलीना ॥
सोचिअ नृपति जो नीति न जाना ।
जेहि न प्रजा प्रिय प्रानसमाना ॥
सोचिअ बयसु कृपन धनवानू ।
जो न अतिथि सिवभगति सुजानू ॥
सोचिअ सूद बिप्र-अवमानी ।
मुखरु मानप्रिय ज्ञान गुमानी ॥
सोचिअ मुनि पतिबंचक नारी ।
कुटिल कलह प्रिय इच्छा चारी ॥
सोचिअ बटु निज ब्रतु परिहरई ।
जो नहिं गुर आयसु अनुसरई ॥

सोचिअ गृही जो मोहबस, करे करम-पथ त्याग ।
सोचिय जती प्रपंचरत, बिगत बिबेक बिराग ॥

वैषानस सोइ सोचन जोगू ।
तपु बिहाइ जेहि भावै भोगू ॥
सोचिय पिसुन अकारन क्रोधी ।
जननिजनक गुरु बन्धु बिरोधी ॥
सब बिधि सोचिअ पर-अपकारी ।
निज तनुपोषक निरदय भारी ॥
सोचनीय सबही बिधि सोई ।
जो न छांड़ि छलु हरिजन होई ॥

सोचनीय नहिं कौसलराऊ ।
भुवन चारिदस प्रगट प्रभाऊ ॥
भयेउ, न अहै, न अग होनिहारा ।
भूप भरत जस पिता तुम्हारा ॥
बिधि हरि हर सुरपति दिसि नाथा ।
बरनहिं सब दसरथ-गुन-गाथा ॥

कहहु तात केहि भांति कोउ, करहि बड़ाई तासु ।
राम लषन तुम सत्रुहन, सरिस सुअ नसुचि जासु ॥

सब प्रकार भूपति बड़भागी ।
बादि बिषादु करिअ तेहि लागी ॥
एहु सुनि समुझि सोचु परिहरहू ।
सिर धरि राजरजायसु करहू ॥
राय राजपदु तुम्ह कहुँ दीन्हा ।
पिताबचनु फुर चाहिअ कीन्हा ॥
तजे रामु जेहि बचनहिं लागी ।
तनु परिहरेउ रामबिरहागी ॥
नृपहि बचन प्रिय, नहिं प्रिय प्राना ।
करहु तात पितु बचन प्रवाना ॥
करहु सीस धरि भूपरजाई ।
है तुम्ह कहँ सब भांति भलाई ॥
परसुराम पितुअग्यां राखी ।
मारी मातु, लोग सब साखी ॥
तनय जजातिहि जीबनु दयेऊ ।
पितुअग्या अघ अजसु न भयेऊ ॥

अनुचित उचित बिचारु तजि जे पालहिं पितुबयन ।
ते भाजन सुख सुजस के बसहिं अमरपति-अयन ॥

अवसिनरेस बचन पुर करहू ।
पालहु प्रजा, सोक परिहरहू ॥
सुरपुर नृपु पाइहि परितोषू ।
तुम्ह कहँ सुकृत सुजसु, नहिं दोषू ॥
बेद बिदित संमत सबही का ।
जेहि पितु देई सो पवै टीका ॥
करहु राजु परिहरहु गलानी ।
मानहु मोर बचन हित जानी ॥
सुनि सुखु लहब राम-बैदेही ।
अनुचित कहब न पंडित केही ॥
कौसल्यादि सकल महतारी ।
तेऊ प्रजासुख होहिं सुखारी ॥
परम तुम्हार राम कर जानिहि ।
सो सब बिधि तुम्ह सन भल मानिहिं ॥
सौंपिहु राजु राम के आए ।
सेवा करेहु सनेह सुहाएँ ॥

लक्ष्मण की मूर्छा पर राम का विषाद

जहां राम लछिमनहिं निहारी ।
बोले बचन मनुजअनुहारी ॥
अर्ध रात्रि गइ कपि नहिं आवा ।
राम उठाइ अनुज उर लावा ॥
सकहु न दुखित देखि मोहिं काऊ ।
बन्धु सदा तव मृदुल सुभाऊ ॥
मम हित लागि तजेहु पितु माता ।
सहेउ बिपिन हिम आतप बाता ॥

सो अनुराग कहां अब भाई ।
उठहु न सुनि मम बचबिकलाई ॥
जौं जनत्यों बन बंधुबिछोहू ।
पिता बचन मनत्यो नहिं ओहू ॥
सुत बिन नारि भवन परिवारा ।
होहिं जाहिं जग बारहिं बारा ॥
असबिचारि जिय जागहु ताता ।
मिलै न जगत सहोदर भ्राता ॥
जथा पंख बिनु खग अति दीना ।
मनि बिनु फनि करिबर करहीना ॥
अस मम जिवन बधु बिनु तोही ।
जौं जड़ दैव जियावै मोही ॥
जैहौं अवध कवन मुँह लाई ।
नारि हेतु प्रिय भाई गवांई ॥
वरु अपजसु सहत्यों जग माहीं ।
नारि हानि बिसेष छत नांही ॥
अब अपलोकु सोकु सुत तोरा ।
सहिहि निठुर कठोर उर मोरा ॥
निज जननी के एक कुमारा ।
तात तासु तुम प्राणअधारा ॥
सौंपेसि मोहि तुम्हि गहि पानी ।
सब बिधि सुखद परम हित जानी ॥
उतरु काह दैहौं तेहि जाई ।
उठि किन मोहि सिखावहु भाई ॥
बहु बिधि सोचत सोचबिमोचन ।
स्रवत सलिल सजिव-दलमोचन ॥

उमा एक अखंड रघुराई ।
नरगति भगतकृपालु देखाई ॥
प्रभु बिलाप सुनि कान बिकल भए बानर निकर ।
आइ गयेउ हनुमान, जिमि करुना महँ वीर रस ॥

शबरी से भेंट

सबरी सोइ उठी फरकत बाम बिलोचन बाहु ।
सगुन सुहावने सूचत मुनिमन- अगम उछाहु ॥
मुनि-अगम उर आनंद, लोचन सजल,तनु पुलकावली ।
तृन-पर्नसाल बनाइ, जल भरि कलस, फल चाहन चली ॥
मंजुल मनोरथ करति, सुमिरति बिप्र बरबानी भली ।
ज्यों कलप-बेलि सकेलि सुकृत सुफूल-फूली सुख फली ॥१॥
प्रानप्रिय पाहुने ऐहैं राम लषन मेरे आजु ।

जानत जन जिय की मृदु चित राम गरीबनिवाजु ।
मृदु चित गरीबनिवाज आजु बिराजि हैं गृह आइकै ।
ब्रह्मादि संकर गौरि पूजित पूजिहौं अब जाइकै ॥
लहि नाथ हौं रघुनाथ-बाना पतितपावन पाइकै ।
दुहुं ओर लाहु अघाइ तुलसी तीसरेहु गुन गाइकै ॥२॥
दोना रुचिर रचे पूरन कन्द मूल फल फूल ।

अनुपम अमितहु तें अँबक अवलोकत अनुकूल ॥
अनुकूल अँबक अंब ज्यों नित डंभ हित सब आनिकै ।
सुंदर सनेह सुधा सहस जनु सरस राखे सानिकै ॥
छन भवन, छन बाहर बिलोकति पंथ भू पर पानिकै ।
दोउ भाइ आये सबरिका के प्रेम-पन पहिचानकै ॥३॥
स्रवन सुनत चली आवत देखि लषन रघुराउ ।
सिथिल सनेह कहै, है सपना बिधि कैधों सति भाउ' ॥

सति भाउ कै सपनो ? निहारि कुमार कोसलराय के ।
गहे चरन जे अघहरन नत-जन बचन-मानसकाय के ॥
लघुभागभाजन उदधि उमग्यो लाभ सुख चित चाय कै ।
सो जननि ज्यों आदरी सानुज, राम भूखे भाय के ॥४॥
प्रेम पट पांवड़े देत सुअरघ विलोचन-बारि ।
आस्रम लै लिये आसन पंकजपांय पखारि ॥
पद-पंकजात पखारि पूजे पंथश्रम-विरहित भये ।
फल फूल अंकुर मूल धरे सुधारि भरि दोना नये ॥
प्रभु खात पुलकित गात, स्वाद सराहि आदर जनु जये ।
फल चारिहू फल चारि दहि पर चारि फल सवरी दये ॥५॥
सुमन बरषि हरषे सुर, मुनि मुदित सराहि सिहात ।
केहि रुचि केहि छुधा सानुज मांगि माँगि प्रभु खात ॥
प्रभु खात माँगत, देति सवरी राम भोगी जाग के ।
पुलकत प्रशंसत सिद्ध सिव सनकादि भाजनभाग के ॥
बालक सुमित्रा कोसिला के पाहुने फल साग के ।
सुनु समुझि तुलसी जानु रामहि बस अमल अनुराग के ॥६॥
रघुवर अंचइ उठे सबरी करि प्रनाम करि जोरि ।
हौं बलि बलि गई पुरई मंजु मनोरथ मोरि ॥
पुरई मनोरथ स्वारथहु परमारथहु पूरन करी ।
अघ अवगुनहु की कोठरी करि कृपा मुदमंगलभरी ॥
तापस किरातिनि कोल मृदु मूरति मनोहर मन धरी ।
सिर नाय आयसु पाइ गवने परमनिधि पाले परी ॥७॥

सियसुधि सब कही नख सिख निरखि निरखि दोउ भाई ।
दै दै दच्छिना करति प्रनाम न प्रेम अघाई ॥
अति प्रीति मानस राखि रामहिं, राम-धामहिं सो गई ।
तेहि मातु ज्यों रघुनाथ अपने हाथ जल अंजलि देही ॥

तुलसीभनित सबरी-प्रनति, रघुबर प्रकृति करुनामई ।
गावत सुनत समुझत भगति हिय होय प्रभुपद नित नई ॥५॥

॥ दोहे ॥

रे मन ? सब सों निरस है, सरस राम सों होहि ।
भलो सिखावन देत है, निस दिन तुलसी तोहि ॥१॥
तुलसी श्री रघुबीर तजि करै भरोसो और ।
सुख संपति की कहा चली, नरकहु नाहीं ठौर ॥२॥
बरषा को गोबर भयो, को चहै को करै प्रीति ।
तुलसी तू अनुभव अब, राम बामुख की रीति ॥३॥
तुलसी ममता राम सों, समता सब संसार ।
राम न रोष न दोष दुख, दास भये भव पार ॥४॥
तुलसी रामहु तें अधिक, राम भक्त जिय जान ।
रिनिया राजा राम भे, धनिक भए हनुमान ॥५॥
बिनु बिस्वास भगति नहिं, तेहि बिनु द्रवहिं न राम ।
रामकृपा बिनु सपनेहुँ जीव न लह बिश्राम ॥५॥
अवसर कौड़ी जो चुकै, बहुरि दिए क्या लाख ।
दुइज न चन्दा देखिए, ऊदो कहा भरि पाख ॥६॥
तुलसी अपना अचरन, भलो न लागत कासु ।
तेहि न बसात जो खात नित, लहसुनहू को बासु ॥८॥
तुलसी जे कीरति चहहिं, पर की कीरति खोई ।
तिनके मुंह मसि लागिहै मिटहि न मरिहै धोइ ॥९॥
परद्रोही, परदार रत, परधन पर, अपवाद ।
ते नर पांवर पाप मय, देह धरे मनुजाद ॥१०॥
सारदूल को स्वांग कर, कूकर की करतूति ।
तुलसी सपर चाहिए, कीरति विजय विभूति ॥११॥

घेट न फूलत बिनु कहे, कहत न लागे ढेर ।
सुमति बिचारे बोलिये, समुझि कुफेर सुफेर ॥१२॥
सूर शमर करनी करहिं, कहि न जनावहिं आपु ।
विद्यमान रन पाय रिपु, कायर करहिं प्रलापु ॥१३॥
तुलशी जो समरथ सुमित, सुकृति, साधु, सयान ।
जो विचारि व्यवहरइ जग, खरच लाभ अनुमान ॥१४॥
दीरघ रोगी, दारिद्री, कटु बच, लोलुप लोग ।
तुलसी प्रान समन तउ, होंहिं निरादर जोग ॥१५॥
सत्रु सयानो सलिल ज्यों, राख सीस रिपुनाउ ।
बूड़त लखि, पग डगित लखि चपरि चहूँ दिसि धाउ ॥१६॥
सरनाउत कहं जे तजहिं, निज अनहित अनुमानि ।
ते नर पांवर पापमय, तिनहि विलोकत हानि ॥१७॥
तुलसी पावस के समय, धरों कोकिलन मौन ।
अब तो दादुर बोलिहैं' हमें पूजिहैं कौन ॥१८॥
तुलसी सन्त सुअम्ब तरु, फूलि फरहिं पर हेत ।
इतते ये पाहन हनत, उतते फल वे देत ॥१९॥
किये पीठि पाछे लगै, सनमुख होत पराय ।
तुलसी संपति छांह ज्यों, लखि दिन वैठ गंवाय ॥२०॥

रहीम

हिन्दीकाव्य के मुसलमान कलाकारों में 'रहीम' का आदरणीय स्थान है। इनका पूरा नाम अब्दुररहीम खानखानाँ था। ये मुगल सम्राट अकबर के इतिहास प्रसिद्ध अभिभावक बैरमखां के सुपुत्र थे। इनका जन्म संवत् १६११ में लाहौर में हुआ था और मृत्यु दिल्ली में संवत् १६८३ में। चार वर्ष की सम्राट अकबर ने इन्हें अपने आश्रय में ले लिया और इनके पालन पोषण, शिक्षा-दीक्षा आदि का सन्तोषजनक प्रबन्ध कर दिया। इस राजसी आश्रय से इन्होंने पूरा २ लाभ उठाया, और थोड़े ही वर्षों में अरब, फारसी तुर्की, संस्कृत तथा हिन्दी में अच्छी योग्यता प्राप्त करली। राजनैतिक विषयों के अध्ययन में इन्हें विशेष रुचि थी। इनका विवाह खाने आजम मिर्ज़ा अज़ीज़ कोकल्ताश की बहिन मोहबानू बेगम से हुआ था।

सम्राट को इनकी नीतिज्ञता, व्यवहार-कुशलता, तथा स्वामि भक्ति पर अत्यन्त विश्वास था। संवत् १६३३ में ये गुजरात के सूबेदार नियुक्त किए गये। गुजरात में उन दिनों अशान्ति का राज्य था। चारों ओर विद्रोह फैला हुआ था। अपनी नीति और पराक्रम के बल से इन्होंने बहुत जल्द उस अशान्ति को दूर कर दिया। इससे इनकी नीति-कुशलता की धाक बैठ गई। इसके बाद समय समय पर विद्रोह दमन के लिए ये अनेक प्रान्तों में नियुक्त किए गए। इसलिए

राज्य-क्षेत्र में इन्होंने विशेष उन्नति की और सेनानायक और प्रधान मन्त्री के प्रतिष्ठित पद तक पहुंचे।

जीवन सन्ध्या में सम्राट जहांगीर से कुछ अनबन हो जाने के कारण इन्हें बहुत कष्टों का सामना करना पड़ा, पर अन्त में सब काम साफ हो जाने पर सम्राट् ने इन्हें निर्दोषी ठहराते हुए फिर से बहाल कर दिया।

साहित्य में इनकी प्रवृत्ति अचल थी। राज कार्यों में सदैव व्यस्त रहने पर भी साहित्य सेवा के लिए ये समय निकाल ही लेते थे। बाबर के आत्मचरित का इन्होंने हिन्दी से फ़ारसी में अनुवाद किया। हिन्दी में इन्हे ब्रज और अवधी दोनों पर अधिकार प्राप्त था। अपनी कविता में इन्होंने दोनों का प्रयोग किया है। खड़ी बोली में भी इनकी रचना मिलती है। बरवैनायक का भेद, मदनाष्टक, सिगंर सोरठा, रहीम सतसई आदि अनेक रचनाएं इनके नाम में प्रसिद्ध हैं। इनकी कविता में नीति और ज्ञान की मात्रा अधिक है। कविता की भाषा सरल और सुन्दर है।

'रहीम' असली शब्दों में साहित्यिक थे। वे स्वयं लिखते थे और लिखने वालों की कदर करते थे। समय के मुख्य साहित्यिकों से इनका परिचय था। तुलसी दास जी के प्रति इनके हृदय में अटूट श्रद्धा थी। कवि गंग का ये बड़ा मान करते थे। कहते हैं केवल दो छन्दों पर प्रसन्न होकर इन्होंने ३६ लाख का इनाम दिया। इस प्रकार धन, मानादि प्रदान कर विद्वानों का प्रोत्साहन किया करते थे।

—०—०—

※ दोहे ※

ता रहीम मन आपुनो, कीन्हों चारु चकोर ।
निसि बासर लागो रहै कृष्णचन्द्र की ओर ॥ १ ॥

सब कोऊ सब सों करै, राम जुहारु सलाम ।
हित अनहित तब जानिए, जा दिन अटके काम ॥ २ ॥

रहिमन कबहुं बड़ेन के, नाहिं गर्व कर लेस ।
भार धरे संसार को, तऊ कहावत सेस ॥ ३ ॥

कहि रहीम सम्पति सगे, बनत बहुत बहुरीत ।
बिपत कसौटी जे कसे, सोई सांचे मीत ॥ ४ ॥

ससि संकोच साहस सलिल, मान सनेह रहीम ।
बढ़त बढ़त बढ़ि जात हैं, घटत घटत घटि सोम ॥ ५ ॥

कौंम बड़ाई जलधि मिलि, गंग नाम भो धीम ।
केहि को प्रभुत, नाहिं घटो, पर-घर गए रहीम ॥ ६ ॥

जेहि रहीम तन-मन लियो, किया हिये बिच भौन ।
तासों सुख दुख कहन की, रही बात अब कौन ॥ ७ ॥

अमी पियावत मान बिन, रहिमन मोह न सुहाय ।
मान सहित मरिबो भलो, जो विस देय बुलाय ॥ ८ ॥

कदली सीप भुजङ्ग मुख, स्वाति एक गुन तीन ।
जैसी संगति बैठिए, तैसोई फल दीन ॥ ९ ॥

मांगे मुकुरिन को गयो, केहि न त्यागियो साथ ।
मांगत आगे सुख लह्यो, ते रहीम रघुनाथ ॥१०॥

यह रहीम माने नहीं, दिल से नवा जो होय ।
चीता चोर कामन के, नए ते औगुन होय ॥११॥

'रहिमन' तब लगि ठहरिए, दान मान सम्मान।
घटत मान देखिय जबहिं, तुरतहिं करिय पयान॥ १२॥
ज्यों नाचत कठपूतरी, करम नचावत गात।
अपने हाथ रहीम ज्यों, नाहीं अपने हाथ॥ १३॥
रहिमन कठिन चिताहुते, चिन्ता कहं चित चेत!
चिता दहत निर्जीव कहं, चिन्ता जीव समेत॥ १४॥
एकै साधै सब सधे, सब साधै सब जाय।
रहिमन सींचे मूल को, फूलै फलै अघाय॥ १५॥
घर डर गुरु डर बंस डर, डर लज्जा डर मान।
डर जेहि के जिय में बसै, तिन पाया रहमान॥ १६॥
रहिमन पानी राखिए, बिन पानी सब सून।
पानी गये न ऊबरै, मोती मानुष चून॥ १७॥
रहिमन विद्या बुद्धि नहिं, नहीं धरम जस दान।
जनम वृथा भू पर धरेउ, पशु बिन पूँछ विषान॥ १८॥
ओछो काम बड़े करैं, तो न बड़ाई होय!
ज्यों रहीम हनुमन्त कों, गिरधर कहे न कोय॥ १९
दुरदिन परे रहीम कहि, भूलत सब पहिचान।
सोच नहीं हित हानि को, जो न होय हित हानि॥ २०॥
निज कर क्रिया रहीम कहि, सिधि भावी के हाथ।
पांसे अपने हाथ में, दांव न अपने हाथ॥ २१॥
यों रहीम सुख दुख सहत, बड़े लोग सह सांति।
उवत चंद जेहि भांति सों, अथवत ताही भांति॥ २२॥
रहिमन को कोउ का करै, ज्वारी, चोर लबार।
जो पत राखनहार हैं, माखन-चाखन-हार॥ २३॥
रहिमन जिह्वा बावरी, कहिगै सरग पताल।
आपु तो कहि भीतर रही, जूती खात कपाल॥ २४॥

रहिमन प्रीति सराहिए, मिले होत रंग दून।
ज्यों जरदी हरदी तजै, तजै सफेदी चून॥ २५॥
हरि रहीम ऐसी करी, ज्यों कमान सर पूर।
खैंचि आपनी ओर को, डारि दियो पुनि दूर॥ २६॥
संपति भरम गंवाइकै, हाथ रहत कछु नाहिं।
ज्यों रहीम ससि रहत है, दिवस अकासहिं माहिं॥ २७॥
होय न जाकी छांह ढिग, फल रहीम अति दूर।
बढ़िहू सो बिनु काज ही, जैसे तार खजूर॥ २८॥
जो गरीब सों हित करै, धनि 'रहीम' ये लोग।
कहा सुदामा बापुरो, कृष्ण मिताई जोग॥ २९॥
जो 'रहीम' भावी कतौं, होत आपुने हाथ।
राम न जाते हरनि संग, सीय न रावन साथ॥ ३०॥
संतति संपति जानि के, सब को सब कुछ देइ।
दीनबन्धु बिनु दीन की, को रहीम सुधि लेइ॥ ३१॥
दीन सबन को लखत है, दीनहिं लखै न कोइ।
जो रहीम दीनहिं लखै, दीनबन्धु सम होइ॥ ३२॥
तरुवर फल नहिं खात हैं, सरवर पियहिं न पानि।
कहि 'रहीम' पर-काज-हित, सम्पति सुचहिं सुजानि॥ ३३॥
जो 'रहीम' बिधि बड़ किये, को कहि दूषन काढ़ि।
चन्द्र दूबरो कूबरो, तऊ नखत तें बाढ़ि॥ ३४॥
सर सूखे पंछी उड़ैं, औरे सरन समाहिं।
दीन मीन बिन पच्छ के, कहु 'रहीम, कहँ जाहिं॥ ३५॥
तब ही लग जीबो भलो, दीबो परै न धीम।
बिन दीबो जीबो जगत, हमहिं न रुचै 'रहीम'॥ ३६॥
'रहिमन' दानि दरिद्रतर, तऊ जाँचिबे जोग॥
ज्यों सरितन सूखा परे, कुवाँ खनावत लोग॥ ३७॥

'रहिमन' देखि बड़ेन को, लघु न दीजिए डारि।
जहाँ काम आवे सुई, कहा करे तरवारि ॥ ३८ ॥

कहु 'रहीम कैसे निभै, बेर केरु केर संग।
वे डोलत रस आपुनो, उनके फाटत अंग ॥ ३९ ॥

खीरा के सिर काटि के, मलियत नमक लगाइ।
'रहिमन' करुये मुखन कै, चहिए यही सजाय ॥ ४० ॥

'रहिमन' राज सराहिए, ससि-सम सुखद जो होय।
कहा बापुरो भानु है, तप्यो तरैयनि खोय ॥ ४१ ॥

जो 'रहीम' उत्तम प्रकृति, का करि सकै कुसंग।
चन्दन विष व्यापत नहीं, लपिटे रहत भुजङ्ग ॥ ४२ ॥

ज्यों 'रहीम गति दीप की, कुल-कपूत गति सोइ।
बारे उजियारो लगे, बढ़े अंधेरो होय ॥ ४३ ॥

अनुचित उचित 'रहीम' लघु, करहिं बड़ेन के जोर।
ज्यों ससि के संयोग ते, पचवति आगि चकोर ॥ ४४ ॥

धनि 'रहीम' जल पङ्क कहँ, लघु जिय पियत अघाय।
उदधि बड़ाई कौन है, जगत पियासो जाय ॥ ४५ ॥

'रहिमन' नीचन सङ्ग बसि, लगत कलंक न काहि।
दूध कलारिन हाथ लखि, मद समुझहिं सब ताहि ॥ ४६ ॥

गुन ते लेत 'रहीम' जन, सलिल कूप ते काढ़ि।
कूपहुँ ते कहुं होत है, मन काहू कर बाढ़ि ॥ ४७ ॥

'रहिमन' वे नर मरि चुके, जे कहुं माँगन जाहिं।
उन ते पहिले वे मुये, जिन मुख निकसत नाहिं ॥ ४८ ॥

धन दारा अरु सुतन में, रहत लगाए चित्त।
क्यों 'रहीम' खोजत नहीं, गाढ़े दिन कर मित्त ॥ ४९ ॥

अब 'रहीम' मुसकिल परी, गाढ़े दोऊ काम।
सांचे से तो जग नहीं, झूठे मिले न राम ॥ ५० ॥

'रहिमन' लाख भली करो, अगुनी अगुन न जाइ।
राग सुनत पय पियत हूं, सांप सहज धरि खाइ ॥ ५१ ॥

सीत हरत तम हरत नित, भुवन भरत नहिं चूक।
'रहिमन तेहि रवि को कहा, जो घटि लखैं उलूक ॥ ५२ ॥

बिगरी बात बने नहीं लाख करो किन कोइ।
'रहिमन' बिगरे दूध को, मथे न माखन होइ ॥ ५२ ॥

मथत मथत माखन रहै, दही मही बिलगाइ।
'रहिमन' सोई मीत है, भीर परे ठहराइ ॥ ५४ ॥

'रहिमन' निज मन की व्यथा, मन ही राखौ गोइ।
सुनि अठिलैहै लोग सब, बांटि न लैहैं कोय ॥ ५५ ॥

अब 'रहीम' चुप करि रहिउ, समुझि दिनन कर फेर।
जब नीके दिन आइहैं, बनत न लगिहै वेर ॥ ५६ ॥

'रहिमन' बिपदा हू भली, जो थोरे दिन होइ।
हित अनहित या जगत में, जानि परत सब कोइ ॥ ५७ ॥

यों 'रहीम' सुख होत है, उपकारी के अंग।
बांटन वारे के लगे, ज्यों मेंहदी को रंग ॥ ५८ ॥

छमा बड़न को चाहिए, छोटन को उत्पात।
का 'रहीम' हरि को घट्यो, जो भृगु मारी लात ॥ ५९ ॥

जब लगि बित्त न आपनो, तब लगि मित्र न कोइ ।
'रहिमन' अम्बुज अम्बु बिनु, रवि ताकर रिपु होइ ॥ ६० ॥
बरु 'रहीम' कानन बसौं, असन करिय फल तोइ ।
बन्धु-मध्य गति हीन ह्वै, वसिबो उचित न होइ ॥ ६१ ॥
'रहिमन' घरिया रहट कह, त्यों ओछे कै डीठि ।
रीतिहि सन्मुख होत हैं, भरी देखावे पीठि ॥ ६२ ॥
"रहिमन' ओछे नरन ते, तजो बैर अरु प्रीति ।
काटे चाखे स्वान के, दुहूं भांति विपरीति ॥ ६३ ॥
'रहिमन' बहु भेषज करत, व्याधि न छाँड़ति साथ ।
खग मृग बसत अरोग बन, हरि अनाथ के नाथ ॥ ६४ ॥
खैर खून खांसी खुसी, बैर प्रीति मद-मान ।
'रहिमन' दाबे ना दबै, जानत सकल जहान ॥ ६५ ॥
जैसी परै सो सहि रहै, कहि 'रहीम' यह देह ।
धरती पर ही परत सब सीत घाम अरु मेह ॥ ६६ ॥

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जन्म काशी के एक समृद्ध वैश्य घराने में संवत् १६०७ में हुआ था और मृत्यु संवत १६४१ में। इनके पिता का नाम गोपालचन्द्र था और माता का नाम पार्वती देवी। गोपालचन्द्र जी स्वयं एक प्रसिद्ध कवि थे। वे 'गिरधरदास' नाम से कविता किया करते थे। भारतेन्दु जी की अवस्था अभी पांच वर्ष की ही थी कि इनकी माता का देहान्त हो गया। दस वर्ष की अवस्था में पिता का आश्रय भी सदैव के लिए दूर हो गया। इन कारणों से इनकी शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध बहुत शिथिल सा रहा। परन्तु इनकी प्रतिभा बड़ी विलक्षण थी; जिस पाठ को यह एक बार सुन लेते थे उसे कभी नहीं भूलते थे। उर्दू, हिन्दी और अंग्रेजी के ये अच्छे विद्वान थे। कविता करने का शौक इन्हें बचपन से ही था। कविता करने की शक्ति तो मानों इन्हें पैतृक सम्पति के रूप में लिखी थी।

भारतेन्दु जी हिन्दी काव्य में एक नवीन युग के प्रवर्तक कहे जाते हैं। इनसे पहले की कविता अधिकाँश में वासना-प्रधान श्रृंगार तक ही सीमित थी। कवि लोग मानव शरीर के वाह्य सौंदर्य का चित्रण करके ही अपने आप को कृत-कृत्य समझते थे। स्वदेश प्रेम, मातृ-भाषा-भक्ति, समाज-सुधार आदि अनेक लोग हितकर विषयों की ओर उनका ध्यान ही नहीं था। भारतेन्दु जी सुधार का पताका लेकर साहित्य-क्षेत्र में प्रविष्ट हुए। इन्होंने कवियों का ध्यान सामयिक युग के अनुकूल विषयों की ओर आकर्षित किया और उनमें मातृ-भूमि मातृ-भाषा और समाज सुधार के पुण्य गीत गाने की सफल प्रेरणा की।

इस प्रकार इन्होंने काव्य-सरिता को बिल्कुल नई दिशा में बदल दिया।

राष्ट्रीयता के ये परम भक्त थे। मातृ-भाषा प्रचार का भी इन्हें बेहद शौक था। इसी प्रकार की प्रबल इच्छा से प्रेरित होकर इन्होंने हरिश्चन्द्र मैगजीन, हरिश्चन्द्र चन्द्रिका, आदि कई पत्र-पत्रिकाओं को जन्म दिया था।

ये केवल ३४ वर्ष तक जीवित रहे, परन्तु इस थोड़ी-सी आयु में ही हिन्दी के लिये बहुत कुछ कर गये। हिन्दी के प्रति जो इनकी सेवाएं हैं, वे उनकी स्मृति को सदैव के लिये अमर रखेंगी। इनकी छोटी बड़ी सभी रचनाओं की संख्या कोई १७५ तक पहुंचती है। इनमें से प्रेम-माधुरी, प्रेम-फुलवारी, सत्य हरिश्चन्द्र, मुद्राराक्षस, अन्धेर नगरी, भारत जननी, भारत-दुर्दशा, चन्द्रावती, नीलदेवी आदि अधिक प्रसिद्ध हैं।

—o-:o:-o—

करुणा-सरिता

हरि-तन करुना-सरिता बाढ़ी।
दुखी देखि निज जन बिनु साधन उमग चली अति गाढ़ी ॥
तोर कूल मरजादा के दोउ न्याव करार गिराए ॥
जित तित परे करम-फल-तरु-गन जड़सौं तोरि बहाए ॥
अचल बिरुद गंभीर भंवर गहि महापाप गन बोरे।
अहमन पवन बेग अति बेगहि दीन महान हिलोरे ॥
भरि दीने, जन हृदय-सरोवर तीनहुं ताप बुझाई।
'हरीचंद' हरि-जस-समुद्र में मिली उमगि हरखाई ॥

भक्ति-हठ

देखहु मेरी नाथ ढ़िठाई।
होइ महा अवरासि रहन हम चहत भगत कहवाई ॥
कबहूं सुधि तुम्हरी आवै जो छटे-छमाहे भूले ॥
ताही सौं मनि मानि प्रेम अति रहत संत बनि फूले ॥
एक नाम सों कोटि पाप को करन पराछित आवैं।
निज अध बड़वानलहि एक ही आँसू बूंद बुझावैं ॥
जो व्यापक सर्वज्ञ न्यायरत धरम-अधीस मुरारी।
'हरीचंद हम छलन चहत तेहि साहस पर बलिहारी ॥ १ ॥

हम तो दोसहु तुमपै धरिहैं।
व्यापक प्रेरक भाखि भाखिकै बुरे करम सब करिहैं ॥
भलो करम जो कछु बनि जैहैं सो कहिहैं हम कीनो।
निसि दिन बुरे करम को फल सब तुम्हरे माथे दीनो ॥
पतित पवित्रकरन तब तुमरो सांचो ह्वै है नाम।
जब तारिहौ हठी कोउ जैसे 'हरीचंद' अघ धाम ॥ २ ।

बही में ठाम न नैकु रही।
भरि गई लिखत लिखत अघ मेरे बाकी तबहु रही ॥
चित्रगुप्त हारे अति थकि के वेसुध गिरे मही।
जमपुर में हरताल परी है कछु नहिं जात कही ॥
जम भाजे कछु खोज मिलत नहिं सबही बही बही।
'हरिचन्द' ऐसे को तारो तो तुव नाम सही ॥ २ ॥

गंगा–वर्णन–

नव उज्वल जल धार, हार हीरक सी सोहति।
बिच बिच छहरति बूंद मध्य मुक्तागन पोहति ॥
लोल लहर लहि पवन एक पै इक इमि आवति।
जिमि नर-गन-मन विविध मनोरथ करत मिटावत ॥
सुभग–स्वर्ग–सोपान–सरिस सब के मन भावत।
रसन मज्जन पान त्रिविध भय दूर मिटावत ॥
श्रीहरिपद–नख–चन्द्रकान्त–मनि–द्रवित सुधारस।
ब्रह्म–कमण्डल-मण्डन, भव—खण्डन सुर–सरवस ॥
शिव सिर मालतिमाल, भगीरथ–नृपति–पुन्यफल।
ऐरावत–गज गिर–पति–हिम–नग–कण्ठहार कल ॥
सगर–सुवन–सठ–सहस परस जल मात्र उधारण।
अगनित धारा रूप धारि सागर संचारण ॥
कासी कहँ प्रिय जानि ललकि भेंट्यो जग धाई।
सपने हूँ नहिं तजी, रही अँकम लपटाई ॥
कहुं बँधे नव घाट उच्च गिरिवर–सम सोहत।
कहुं छतरी कहुं मढ़ी बढ़ी मन मोहत जोहत ॥
धवल धाम चहुं ओर फहरत धुजा पताका।
घहरत घंटा धुनि धमकत धौंसा करि साका ॥

मधुरी नौबत बजत कहूँ नारी-नर गावत ।
वेद पढ़त कहुं द्विज, कहुँ जोगी ध्यान लगावत ॥
कहुं सुन्दरी नहात बारि कर-जुगल उछारत ।
जुग अँबुज मिलि मुक्तगुच्छ मनु सुच्छ निकारत ॥
धोवत सुन्दरि बदन करन अति ही छवि पावत ।
बारिधि नाते ससि कलंक मनु कमल मिटावत ॥
सुन्दरि ससि मुख नीर मध्य इमि सुन्दर सोहत ।
कमलबेलि लेहलही नवल कुसमन मन मोहत ॥
दीठि जहीं जहँ जात रहत तितही ठहराई ।
गंगा छवि हरिचन्द कछू बरनी नहिं जाई ॥

यमुना वर्णन

तरनि-तनूजा तट तमाल तरुवर बहु छाये ।
झुके कूल सों जल परसन हित मनहुँ सुहाये ॥
किधौं मुकुर में लखत उझकि सब निज२ सोभा ।
कै प्रनवत जल जानि परम पावन फल लोभा ॥
मनु आतप वारन तीर को सिमिटि सबै छाये रहत ।
कै हरि-सेवा-हित नै रहे निरख नैन मन सुख लहत ॥
परत चन्द्र-प्रतिबिम्ब कहूं जलमधि चमकायो ।
लोल लहर लहि नचत कबहुँ सोई मन भायो ॥
मनु हरि दरसन हेत चन्द जल बसत सुहायो ।
कै तरंग कर मुकुर लिये सोभित छवि छायो ॥
कै रास-रमन में हरि-मुकुट-आभा जल दिखरात है ।
कै जल उर हरि मूरति बसति ता प्रतिबिम्ब लखात है ॥
कबहुं होत सत चन्द कबहुँ प्रगटत दुरि भाजत ।
पवन गवन बस बिंब रूप जल में बहु साजत ॥

मनु ससि भरि अनुराग जमुन-जल लोटत डोलै ।
कै तरंग की डोर हिंडोरन करत किलोलै ॥
कै बाल गुड़ी नभ में उड़ी सोहत इत उत धावति ।
कै अवगाहत डोलत कोऊ ब्रज रमनी जल आवती ॥
कूजत कहुं कलहंस कहूँ सज्जत पारावत ।
कहुं कारण्डवत उड़त कहूँ जल कुक्कुट धावत ॥
चक्रवाक कहुं बसत कहूँ बक ध्यान लगावत ।
सुक पिक जल कहुं पियत कहुं भ्रमरावलि गावत ॥
कहुं तट पर नाचत मोर कहुं, रोर विविध पच्छी करत ।
जलपानन्हान करि सुख भरे तट सोभा सब जिय धरत ॥

भारत-दुर्दशा

भारत के भुज-बल जग रच्छित ।
भारत विद्या लहि जग सिच्छित ॥
भारत तेज जगत बिस्तारा ।
भारत भय कंपत संसारा ॥
जाके तनिकहिं भौंह हिलाए ।
थर थर कंपत नृप डरपाए ॥
जाके जय की उज्वल गाथा ।
गावत सब महि मंगल साथा ॥
भारत किरिन जगत उजियारा ।
भारत जीव जिअत सँसारा ॥
रह्यौ रुधिर जब आरज-सीसा ।
ज्वलित अनल समान अवनीसा ॥
साहस बल इन सम कोउ नाहीं ।
तबै रह्यौ महि मँडल माहीं ॥
कहा करी तकसीर तिहारी ॥
रे विधि रुष्ट याहि की बारी ॥

सबै सुखी जग के नर-नारी ।
रे विधना भारतहि दुखारी ॥
हाय रोम तू अति बड़भागी ।
बर्बर तोहि नास्यौ जय लागी ॥
तोड़े कीरतिथंभ अनेकन ।
ढाहे गढ़ बहु करि प्रण ठेकन ॥
मन्दिर महलनि तोरि गिराए ।
सबै चिन्ह सब धूरि मिलाए ॥
कछु न बची तुव भूमि निसानी ।
सो बरु मेरे मन अति मानी ॥
भारत भाग न जात निहारे ।
थाप्यो पग ता सीस उघारे ॥
तोर्यो दुर्गन महल ढहायो ।
तिनहीं में निज गेह बनायो ॥
ते कलंक सब भारत केरे ।
ठाढ़े अजहूँ लखो घनेरे ॥
काशी प्राग अयोध्या नगरी ।
दीन रूप सम ठाढ़ी सगरी ॥
चँडालहु जेहि निरखि घिनाई ।
रही सबै भुव मुँह मसि लाई ॥
हाय पँचनद हा पानीपत ।
अजहुँ रहे तुम धरनि विराजत ॥
हाय चितौर निलज तू भारी ।
अजहुं खरो भारतहि मँझारी ॥
जो दिन तुम अधिकार नसायो ।
सो दिन क्यों नहिं धरनि समायो ।

तुम में जल नहिं जमुना गंगा।
बढ़हु वेग करि तरल तरंगा॥
धोवहु यह कलँक की रासी।
बोरहु किन झट मथुरा कासी॥
कुस कन्नौज अङ्ग अरु बंगहि।
बोरहु किन निज कठिन तरंगहि॥
बोरहु भारत भूमि सबेरे।
मिटै करक जिय को तब मेरे॥
अहो भयानक भ्राता सागर।
तुम तरंग-निधि अति बल-आगर॥
बोरे बहु गिरि बन अस्थाना।
पै बिसरे भारत हित जाना॥
बढ़हु न बेगि धाई क्यों भाई॥
देहु भरत भुव तुरत डुबाई॥
मेरि छिपावहु बिंध्य हिमालय।
करहु सकल जल भीतर तुम लय॥
धोवहु भारत अपजस पंका।
मेटहु भारत-भूमि कलँका॥

फूट—

जगत में घर की फूट बुरी!
घर की फूटहिं सों बिनसाई सुबरन लँकपुरी।
फूटहिं सों सब कौरव नासे भारत युद्ध भयो।
जाको घाटो या भारत मैं अबलौं नहि पुरयो॥
फूटहिं सों जयचन्द बुलायो यवनन भारत धाम।
जाको फल अबलों भारत सब आरज होई गुलाम॥
फूटहिं सों नबनन्द बिनासे गयो मगध को राज।
चन्द्रगुप्त को नासन चाह्यो आप नसे सह साज॥
जो जग में धनमान और बल अपुनो राखन होय।
तो अपने घर में भूलेहु फूट करो मत कोय॥

अयोध्यासिंह उपाध्याय

इनका जन्म सम्वत् १६२२ में सँयुक्त प्राँत के निजामाबाद नाम के एक कसबे में हुआ था। इनके पिता का नाम पं० भोलानाथ उपाध्याय था। प्रारँभिक शिक्षा के बाद इन्होंने तहसीली स्कूल में वर्नाक्यूलर मिडिल परीक्षा पास की। इस के बाद अँग्रेजी पढने के लिये ये क्वीन्स कालिज बनारस में प्रविष्ट हुए, किन्तु स्वास्थ्य बिगड़ जाने के कारण इन्हें कालिज छोड़ना पड़ा। इसके बाद ये चार पाँच वर्ष तक घर पर ही अँग्रेजी, फारसी तथा सँस्कृत का अभ्यास करते रहे २२ वर्ष की अवस्था में इन्होंने नार्मल परीक्षा पास की और इसके दो वर्ष बाद कानूनगोई। तहसीली स्कूल में कुछ दिन अध्यापन करने के बाद ये कानूनगो के पद पर नियुक्त हो गए और ३२ वर्ष तक सरकारी नौकरी की। सम्वत १६८० में सरकारी नौकरी समाप्त करके ये पेंशन के अधिकारी हुए।

साहित्य की ओर प्रारँभ से ही इनकी रुचि थी। सरकारी नौकरी के साथ-साथ काव्य साधना में ये सतत प्रवृत्त रहे, और पेंशन-प्राप्ति के समय तक साहित्य-क्षेत्र में ये पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे। आज कल ये हिन्दू विश्व-विद्यालय में अवैतनिक रुप से हिन्दी अध्यापन का कार्य कर रहे हैं।

उपाध्याय जी आधुनिक युग के सब से पुराने कवि हैं। इन्होंने ब्रज भाषा, तथा खड़ी बोली दोनों में सफलता पूर्वक कविता की है। गद्य और पद्य दोनों क्षेत्रों में सफलता ने इनका साथ दिया है। ये गद्य और पद्य दोनों में कठिन से कठिन,

सरल से सरल भाषा लिखने की क्षमता रखते हैं। सँस्कृत-शब्द-मयी और बोल-चाल की दोनों प्रकार की शैलियों पर इनका समान अधिकार है। पुराने विषयों में भी चमत्कार पूर्ण नवीनता ला देना इनकी विशेषता है। 'प्रिय प्रवास' इनकी सर्वोत्कृष्ट रचना है। सँस्कृत ढंग के इस अतुकांत महाकाव्य ने उपाध्याय जी को अमर कीर्ति प्रदान की है। इस पर सँवत् १६६५ में हिंदी साहित्य सम्मेलन की ओर से इन्हें 'मंगलाप्रसाद पारितोषिक' भी मिला था। इसके अतिरिक्त 'चुभते चौपदे' 'चोखे चौपदे', 'बोल चाल' आदि इनकी अनेक रचनाएँ प्रसिद्ध हैं। 'पद्य प्रसून' और 'कल्पलता' इनकी फुटकर कविताओं के सँग्रह हैं।

श्रीकृष्ण का गोकुल गमन

दिवस का अवसान समीप था,
गगन था कुछ लोहित हो चला।
तरु-शिखा पर थी अब राजती,
कमलिनी-कुल-वल्लभ की प्रभा॥

(२)

विपिन बीच विहँगमवृंद का,
कल निनाद विवर्द्धित था हुआ।
ध्वनि-मयी विविधा विहँगावली,
उड़ रही नभमण्डल-मध्य थी।

(३)

अधिक और हुई अब लालिमा,
दश-दिशा अनुरञ्जित हो गईं।
सकल-पादप-पुञ्ज हरीतिमा,
अरुणिमा विनिमज्जितसी हुई॥

(४)

झलकते पुलिनों पर भी लगी,
गगन के तल की यह लालिमा।
सरित औ, सर के जल में पड़ी,
अरुणिमा अति ही रमणीय थी॥

(५)

अचल के शिखरों पर जा पड़ी,,
किरण पादप-शीश विहारिणी।

तरणि-बिम्ब तिरोहित हो चला,
गगन मण्डल मध्य शनैः शनैः ॥

(६)

ध्वनि मयी करके गिरि कन्दरा,
कलित-कानन केलि निकुञ्ज में।
मुरलि एक बजी इस काल ही,
तरणिजा-तट-राजित कुञ्ज में॥

(७)

क्वणित मञ्जु- विषाण हुए कई,
रणित शृंग हुए बहु साथ ही।
फिर समाहित - प्रांत - भाग में,
सुन पड़ा स्वर धावित-धेनु का॥

(८)

विपिन की क्षण में वन-वीथिका,
विविध धेनु-विभूषित होगई।
धवल - धूसर - वत्स - समूह भी,
समुद था जिनके संग सोहता॥

(९)

जब हुई समवेत शनैः शनैः,
सहित गो-गण मण्डलि ग्वाल की।
तब चली ब्रज - भूषण को लिए,
वह अलंकृत-गोकुल - ग्राम को॥

(१०)

गगन के तल गोरज आ गई,

दश-दिशा बहुशब्दमयी हुई ।
विशद गोकुल के प्रति गेह में,
बह चला वरस्रोत विनोद का ॥

(११)

दिन समस्त समाकुल से रहे,
सकल मानव गोकुल ग्राम के ।
अब दिनान्त विलोकत ही बढ़ी,
व्रजविभूषण - दर्शन - लालसा ॥

(१२)

सुन पड़ा स्वर ज्यों कल वेणु का,
सकल ग्राम समुत्सुक हो उठा ।
हृदय यन्त्र निनादित हो गया,
तुरत ही अनियन्त्रित भाव से ॥

(१३)

वयवती युवती बहु बालिका,
सकल बालक वृद्ध वयस्क भी ।
विवश से निकले निज गेह से,
स्वहृग का दुख मोचन के लिए ॥

(१४)

इधर गोकुल से जनता कढ़ी,
उमगती अति आनंद में पगी ।
उधर आ पहुंची बलवीर की,
विपुल - धेनु-विमण्डित मण्डली ॥

(१५)

ककुभ – शोभित गोरज बीच से,
निकलते ब्रज – बल्लभ यों लसे ।
कदन ज्यों करके दिशि – कालिमा,
विकसता नभ में नलिनेश है ॥

कर्मवीर

देखकर बाधा विविध, बहु विघ्न घबराते नहीं ।
रह भरोसे भाग के दुख भोग पछताते नहीं ॥
काम कितना ही कठिन हो किंतु उकताते नहीं ।
भीड़ में चंचल बने जो वीर दिखलाते नहीं ॥
हो गये यक आन में उनके भले दिन भी बुरे ।
सब जगह सब काल में वे ही मिले फूले फले ॥ १ ॥
आज करना है जिसे करते उसे हैं आज ही ।
सोचते कहते हैं जो कुछ कर दिखाते हैं वही ॥
मानते जी की हैं सुनते हैं सदा सब की कही ।
जो मदद करते हैं अपनी इस जगत में आप ही ॥
भूलकर वे दूसरों का मुँह कभी तकते नहीं ।
कौन ऐसा काम है वे कर जिसे सकते नहीं ॥ २ ॥
जो कभी अपने समय को यों बिताते हैं नहीं ।
काम करने की जगह बातें बनाते हैं नहीं ॥
आज कल करते हुए जो दिन गँवाते हैं नहीं ।
यत्न करने में कभी जो जी चुराते हैं नहीं ॥
बात है वह कौन जो होती नहीं उनके किये ।
वे नमूना आप बन जाते हैं औरों के लिये ॥ ३ ॥
व्योम को छूते हुए दुर्गम पहाड़ों के शिखर ।
वे घने जँगल जहाँ रहता है तम आठों पहर ॥

गर्जते जल-राशि की उड़ती हुई ऊँची लहर ।
आग की भयदायिनी फैली दिशाओं में लवर ॥
ये कपा सकती कभी जिसके कलेजे को नहीं ।
भूल कर भी वह नहीं नाकाम रहता है कहीं ॥ ४ ॥
चलचिलाती धूप को जो चांदनी देवें बना ।
काम पड़ने पर करें जो शेर का भी सामना ॥
जो कि हँस हँस के चबा लेते हैं लोहे का चना ।
'है कठिन कुछ भी नहीं' जिनके है जी में यह ठना ॥
कोस कितने ही चलें पर वे कभी थकते नहीं ।
कौन सी है गांठ जिसको खोल वे सकते नहीं ॥ ५ ॥
ठीकरी को वे बना देते हैं सोने की डली ।
रेत को करके दिखा देते हैं वे सुन्दर खली ॥
वे बबूलों में लगा देते हैं चँपे की कली ।
काक को भी वे सिखा देते हैं कोकिल-काकली ॥
ऊसरों में हैं खिला देते अनूठे वे कमल ।
वे लगा देते हैं उकटे काठ में भी फूल फल ॥ ६ ॥
काम को आरंभ करके यों नहीं जो छोड़ते ।
सामना करके नहीं जो भूल कर मुँह मोड़ते ॥
वे गगन के फूल बातों से वृथा नहिं तोड़ते ।
सँपदा मन से करोड़ों की नहीं जो जोड़ते ॥
बन गया हीरा उन्हीं के हाथ से है कारबन ।
कांच को करके दिखा देते हैं वे उज्ज्वल रतन ॥ ७ ॥
पर्वतों को काट कर सड़कें बना देते हैं वे ।
सैकड़ों मरुभूमि में नदियां बहादेते हैं वे ॥
गर्भ में जल-राशि के बेड़ा चला देते हैं वे ।
जँगलों में भी महा-मँगल रचा देते हैं वे ॥

भेद नभतल का उन्होंने है बहुत बतला दिया।
है उन्होंने ही निकाली तार की सारी क्रिया ॥ ८ ॥
कार्य-थल को वे कभी नहिं पूछते 'वह है कहां'?
कर दिखाते हैं असँभव को वही सँभव यहां।
उलझनें आकर उन्हें पड़ती हैं जितनी ही जहां।
वे दिखाते हैं नया उत्साह उतना ही वहां॥
डाल देते हैं विरोधी सैंकड़ों ही अड़चनें।
वे जगह से काम अपना ठीक करके ही टलें ॥ ९ ॥

जो रुकावट डालकर होवे कोई पर्वत खड़ा।
तो उसे देते हैं अपनी युक्तियों से वे उड़ा॥
बीच में पड़कर जलधि जो काम देवे गड़बड़ा।
तो बना देंगे उसे वे क्षुद्र पानी का घड़ा॥

बन खँगालेंगे करेंगे व्योम में बाजीगरी।
कुछ अजब धुन काम के करने की उनमें है भरी ॥ १० ॥
सब तरह से आज जितने देश हैं फूले फले।
बुद्धि, विद्या, धन विभव के हैं जहां डेरे डले॥

वे बनाने से उन्हीं के बन गये इतने भले।
वे सभी हैं हाथ से ऐसे सपूतों के पले॥
लोग जब ऐसे समय पाकर जनम लेंगे कभी।
देश की औ जाति की होगी भलाई भी तभी ॥ ११ ॥

फूल और कांटा

हैं जनम लेते जगह में एक ही,
एक ही पौधा उन्हें है पालता।
रात में उन पर चमकता चाँद भी,
एक ही सी चांदनी है डालता ॥ १ ॥

मेह उन पर है बरसता एक सा,
एक सी उन पर हवायें हैं बहीं ।
पर सदा ही यह दिखाता है हमें,
ढंग उनके एक से होते नहीं ॥ २ ॥

छेद कर कांटा किसी की उँगलियां;
फाड़ देता है किसी का वर बसन ।
प्यार—डूबी तितलियों के पर कतर,
भौंर का है बेध देता श्याम तन ॥ ३ ॥

फूल लेकर तितलियों को गोद में,
भौंर को अपना अनूठा रस पिला ।
निज सुगन्धों औ निराले रंग से,
है सदा देता कली जी की खिला ॥ ४ ॥

है खटकता एक सबकी आंख में,
दूसरा है सोहता सुर सीस पर ।
किस तरह कुल की बड़ाई काम दे,
जो किसी में हो बड़प्पन की कसर ॥ ५ ॥

समय का फेर

धन विभव की बात क्या जिनके बड़े,
रज बराबर वे समझते राज को ।
है तरस आता उन्हीं के लाड़ले,
हैं तरसते एक मूठी नाज को ॥

क्या दिनों का फेर हम इसको कहें ?
या कि है दिखला रही रङ्गत विपत ?
थी कभी हमसे नही जिनकी चली,
आज दिन वे ही हैं चपल ॥

ढोर खा वे बिता रहे हैं दिन,
जो रहे धन कुबेर कहलाते।
अन्न से घर भरा रहा जिनका,
आज वे पेट भर नहीं पाते ॥

चाव से चुगते जहां मोती रहे,
हँस तज कर मानसर आये हुए।
पोच दुख से आज वाँ के जन पचक,
फिर रहे हैं पेट पचकाये हुए ॥

जो सुखों की गोदियों के लाल थे
दिन ब दिन वे हैं दुखों से घिरे।
जो रहे अकड़े जगत के सामने,
आज वे हैं पेट पकड़े फिर रहे ॥

बांटते जो जहान को उनको,
सुध रही बाट बांटने ही की।
पाटते जो समुद्र थे उनको,
है पड़ी पेट पाटने ही की ॥

पेट जिनसे चींटियों तक का पला,
जा सके जिनके नहीं जाचक गिने।
कट रहे हैं पेट का काटें गये,
लट रहे हैं कौर वे मुँह का छिने ॥

दूध पीने को उन्हें मिलता नहीं,
जो सहित परिवार पीते घी रहे।
अब किसी का पेट भर पाता नहीं,
लोग आधा पेट खा हैं जी रहे ॥

पेट भर अब अन्न मिलता है कहां ?
हैं कहाँ अब डालियां फल से लदो

बह रहा है सोत दुख का अब वहां,
थी जहाँ घी दूध की बहती नदी ॥
छिन गया आज कौर मुँह का है,
गाय देती न दूध है दूहे ।
है बुरा हाल भूख से मेरा,
पेट में कूद हैं रहे चूहे ॥
बात बिगड़े नहीं किसी की यों,
मरतबा यों न हो किसी का कम ।
पांव मेरे जहान पड़ता था;
दुख पड़े पांव पड़ रहे हैं हम ॥
आज वे हैं जान के गाहक बने,
मुँह हमारा देख जो जीते रहे ।
हाथ धो वे आज पीछे हैं पड़े,
जो हमारा पाँव धो पीते रहे ॥
छू जिन्हें मैल दूर होता था,
आज वे हो गये बहुत मैले ।
वे नहीं आज फैलते घर में,
पाँव जो थे जहान में फैले ॥
बेहतर क्यों न दिल रहे मलता,
दुख दुखी चित्त किस तरह हो कम ।
लोटते पांव के तले जो थे,
पांव उनका पलोटते हैं हम ॥
गालियाँ हैं आज उनको मिल रहीं,
गीत जिनका देवते थे गा रहे ।
पांव जिनके प्रेम से पुजते रहे,
पाँव की वे ठोकरें हैं खा रहे ॥

अब वहां छल की कपट की फूट की,
नटखटी की है रही फहरा धुजा ।
पापियों का पाप मन का मल धो,
है जहां पर पांव का धोअन पुजा ॥

आज वे पाले दुखों के हैं पड़े,
जो सदा सुख-पालने में ही पले ।
सेज पर जो फूल की थे लेटते,
वे रहे हैं लेट तलवों के तले ॥

मैथिलीशरण गुप्त

गुप्त जी भारत के प्रतिनिधि कवि हैं । इनकी कविता की लोकप्रियता इस बात का सजीव प्रमाण है । निर्धक और धनिक, स्कूल के छात्र और धुरन्दर विद्वान, और बूढे सभी इनकी रचनाओं को अत्यन्त चाव से पढ़ते हैं । इस लोकप्रियता का रहस्य है इनकी सरल भाषा, इनके मार्मिक विचार और जनता के हृदय तक पहुँचने वाले इनकी कविता के विषय ।

इनका जन्म संवत १६४३ में सेठ श्रीरामचरण गुप्त जी के घर चिर गांव जिला झांसी में हुआ था । इनकी शिक्षा अधिकतर घर पर हुई थी । ११ वर्ष की अवस्था में प्रारंभिक शिक्षा के बाद अंगरेजी अध्ययन के लिये इन्हें झांसी भेज दिया गया, किन्तु वहां पढ़ाई की अपेक्षा वे खेल कूद में अधिक प्रवृत्त रहते थे । यह देखकर इनके पिता ने इन्हें वापिस बुला लिया और अपनी देखरेख में घर पर ही फिर से इनकी पढ़ाई की व्यवस्था करदी । कविता करने का इन्हें बचपन से ही बड़ा शौक था, काव्य रचना की यह प्रवृत्ति

इन्हें अपने पिता से प्राप्त हुई थी। सेठ श्रीरामचरण जी कविता के अच्छे प्रेमी थे और कभी कभी स्वयं भी कविता करते थे। उनके संसर्ग से गुप्त जी को काफी उत्तेजना मिली गुप्त जी के दूसरे आचार्य थे महावीर प्रशाद द्विवेदी। द्विवेदी जी के समस्त प्रोत्साहन से गुप्त जी की काव्य-शक्तियों को एक निश्चित धारा ग्रहण करने में बहुत कुछ सहायता मिली।

गुप्त जी ने अधिकांश में राष्ट्र और समाज इन दो विषयों पर लिखा है। इनके हृदय में दोनों के गौरवमय अतीत के प्रति असीम आदर है, दीनहीन वर्तमान के प्रति अपार खेद है और उज्ज्वल भविष्य के प्रति आशा का भाव। इन भावनाओं का गुप्त जी ने अपनी रचनाओं में बहुत सुन्दर चित्रण किया है। इनके इस सफल प्रयास से राष्ट्र और समाज दोनों को ऊपर उठाने में सहायता मिली है। जाति के उद्बोधन के लिऐ, समाज की उन्नति के लिए, तथा देश के पुनरुत्थान के लिए इनकी रचनाएं बहुत हितकर साबित हुई हैं।

भारत-भारती, रंग में भंग, किसान, वैतालिक, स्वदेश संगीत, पत्रावली, हिन्दू, गुरुकुल, जयप्रथवध, पंचवटी, सैरन्ध्री, शकुन्तला, बकसहार, बनवैभव, सकेत, यशोधरा, चन्द्रहास, अवध, तिलोत्तमा, मेघनाथवध, पलासी का युद्ध, द्वापर, सिध्दराज इत्यादि इनकी अनेक रचनाएं हिन्दी-जगत् में अमर ख्याति प्राप्त कर चुकी हैं। 'साकेत, पर इन्हें मंगला प्रसाद पारितोषिक भी मिल चुका है। कुणाल-गीत इनकी नवीनतम रचना है। इसमें वेदना, त्याग और विश्व-प्रेम के हृदय-ग्राही चित्र हैं।

शिक्षा की अवस्था

हा ! अब शिक्षा मार्ग भी संकीर्ण हो कर क्लिष्ट है;
कुलपति-सहित उन गुरुकुलों का ध्यान ही अवशिष्ट है।
बिकने लगी विद्या यहां अब शक्ति हो तो क्रय करो,
यदि शुल्क आदि न दे सको तो मूर्ख रह कर ही मरो ॥१॥
ऐसी असुविधा में कहो वे दीन कैसे पढ़ सकें ?
इस ओर वे लाखों अकिञ्चन किस तरह से बढ़ सकें ?
अधपेट रह कर काटते हैं मास दिन के तीस वे,
पावें कहां से पुस्तकें, लावें कहां से फ़ीस वे ? ॥२॥
वह आधुनिक शिक्षा किसी विधि प्राप्त भी कुछ कर सको—
तो लाभ क्या, बस क्लर्क बन कर पेट अपना भर सको !
लिखते रहो जा सिर झुका, सुन अफ़सरों की गालियां !
तो दे सकेंगीं रात को दो रोटियां घरवालियाँ ! ॥३॥
अब नौकरी ही के लिये विद्या पढ़ी जाती यहां,
बी० ए० न हों हम तो भला डिप्टीगिरी रक्खी कहां ?
किस स्वर्ग का सोपान है तू हायरी, डिप्टीगिरी !
सीमा समुन्नति की हमारी, चित्त में तू ही भरी !! ॥४॥
शिक्षार्थ छात्र विदेश भी जाते अवश्य कभी कभी,
पर वक्तृता ही झाड़ते हैं लौट कर प्रायः सभी !
है काम कितनों का यही पहले यहां मिस्टर बनें,
इँगलैंड जाकर फिर वहां बाम्बोर बारिस्टर बनें ॥५॥
वे वीर हाय स्वदेश का करते यही उपकार हैं,
दो भाइयों के युद्ध में होते यही आधार हैं।
उनके भरोसे पर यहां अभियोग चलते हैं बड़े,
हारें कि जीतें आप, उनके किन्तु पौबारह पड़े ॥६॥

जाकर विदेश अनेक अब तक युवक अपने आ चुके,
पर देश के वाणिज्य हित की ओर कितने हैं झुके ?
हैं कारखाने कौनसे उनके प्रयत्नों से चले ?
क्या क्या सु-फल निज देश में उनसे अभी तक हैं फले ॥७॥
बिगड़े हमारे अब सभी स्वाधीन वे व्यवसाय हैं,
भिक्षा तथा बस भृत्यता ही आज शेष उपाय हैं।
पर हाय ! दुर्लभ हो रही है प्राप्ति इनकी भी यहा,
यह कौन जाने इस पतन का अन्त अब होगा कहां ? ॥८॥
यह साम्प्रतिक शिक्षा हमारे सर्वथा प्रतिकूल है,
हममें, हमारे देश के प्रति, द्वेष-मति की मूल है।
हममें विदेशी भाव भरके वह भुलाती है हमें,
सब स्वास्थ्य का संहार करके वह रुलाती है हमें!॥९॥
होती नहीं उसमें हमें निज धर्म्म में अनुरक्ति है,
होने न देती पूर्वजों पर वह हमारी भक्ति है।
उसमें विदेशी मान का ही मोह पूर्ण महत्व है,
फल अन्त में उसका वही दासत्व है, दासत्व है! ॥१०॥
दुर्भाग्य से अब एक तो वह ब्रह्मचर्य्याश्रम नहीं,
तिस पर परिश्रम व्यर्थ यह पड़ता हमें कुछ कम नहीं ?
फिर शीघ्र ही चश्मा हमारे चक्षु चाहें क्यों नहीं ?
हम रुग्ण होकर आमरण दुख से कराहें क्यों नहीं ? ॥११॥
करके सु-शिक्षा की उपेक्षा यों पतित हम हो रहे,
हो प्राप्त पशुता को स्वयं मनुजत्व अपना खो रहे।
आहार निद्रा आदि में नर और पशु क्या सम नहीं ?
है ज्ञान का बस भेद सो भूले उसे क्या हम नहीं ? ॥१२॥
धर्मोपदेशक विश्व में जाते जहां से थे सदा,
शिक्षार्थ आते थे जहाँ संसार के जन सर्वदा !

अज्ञान के अनुचर वहाँ अब फिर रहे फूले हुए,
हम आज अपने आपको भी हैं स्वयं भूले हुए ॥१३॥
अपमान हाय ! सरस्वती का कर रहे हम लोग हैं,
पर साथ ही इस धृष्टता का पा रहे फल-भोग हैं ।
निज देवता के कोप में कल्याण किसका है भला ?
हम मोह-मुग्ध फंसा रहे हैं आप ही अपना गला ॥१४॥

मातृ-भूमि

नीलाम्बर परिधान हरित तट पर सुन्दर है,
सूर्य चन्द्र युग मुकुट, मेखला रत्नाकर है ।
नदियां प्रेम-प्रवाह, फूल तारे मण्डन हैं
बन्दी विविध विहंग, शेषफल सिंहासम हैं ॥
करते अभिषेक पयोद हैं,
बलिहारी इस वेष की !
है मातृ-भूमि ! तू सत्य ही,
सगुणमूर्ति सर्वेश की ॥

मृतक-समान अशक्त विवश आंखों को मीचे ।
गिरता हुआ विलोक गर्भ से हमको नीचे ।
करके जिसने कृपा हमें अवलम्ब दिया था,
लेकर अपने अतुल अंक में त्राण किया था !
जो जननी का भी सर्वदा,
थी पालन करती रही ।
तू क्यों न हमारी पूज्य हो,
मातृ-भूमि मातामही ॥
जिसकी रज में लोट लोट कर बड़े हुए हैं,
घुटनों के बल सरक-सरक कर खड़े हुए हैं ।

परमहंस सम बाल्यकाल में सब सुख पाये,
जिसके कारण 'धूलि भरे हीरे' कहलाये।
हम खेले कूदे हर्षयुत,
जिसकी प्यारी गोद में।
हे मातृ-भूमि ! मुझको निरख,
मग्न क्यों न हों मोद में।

हमें जीवनाधार अन्न तू ही देती है,
बदले में कुछ नहीं किसी से तू लेती है।
श्रेष्ठ एक से एक विविध द्रव्यों के द्वारा;
पोषण करती प्रेम-भाव से सदा हमारा।
हे मातृ-भूमि, उपजें न जो,
तुम से कृषि-अंकुर कभी।
तो तड़प तड़प कर जल मरें,
जठरानल से हम सभी॥

निर्मल तेरा नीर अमृत के सम उत्तम है,
शीतल मन्द सुगन्ध पवन हर लेती श्रम है।
षट् ऋतुओं का विविध दृश्ययुत अद्भुत क्रम है,
हरियाली का फर्श नहीं मखमल से कम है।
शुचि सुधा सींचता रात में,
तुझ पर चन्द्र-प्रकाश है।
हे मातृभूमि ! दिन में तरणि,
करता तम का नाश है।

सुरभित सुन्दर सुखद सुमन तुझ पर खिलते हैं;
भांति भांति के सरस सुधोपम फल मिलते हैं।
औषधियां हैं प्राप्त एक से एक निराली,
खानें शोभित कहीं धातु वर-रत्नों वाली;

आवश्यक जो होते हमें,
मिलते सभी पदार्थ हैं।
हे मातृ-भूमि ? वसुधा', धरा',
तेरे नाम यथार्थ हैं ॥
दीख रही है कहीं दूर तक शैल-श्रेणी
कहीं घनावलि बनी हुई है तेरी वेणी,
नदियाँ पैर पखार रही हैं बनकर चेरी
फूलों से तरुराजि कर रही पूजा तेरी;
मृदु मलय-वायु मानो तुझे,
चन्दन चारु चढ़ा रही ।
हे मातृभूमि ? किसका न तू,
सात्विक-भाव बढ़ा रही ॥
क्षमामयी ,तू दयामयी है, क्षेममयी है,
सुधामयी, वात्सल्यमयी, तू प्रेममयी है ।
विभवशालिनी, विश्वपालिनी दुख-हर्त्री है ।
भयनिवारिणी शान्तिकारिणी सुखकर्त्री है;
हे शरणदामिनी देवि ? तू,
करती सबका त्राण है ।
हे मात्रभूमि ? सन्तान हम,
तू जननी, तू प्राण है ॥
जिस पृथिवी में मिले हमारे पूर्वज प्यारे,
उससे हे भगवान कभी हम रहें न न्यारे;
लोट लोट कर वहीं हृदय को शान्त करेंगे,
उसमें मिलते समय मृत्यु से नहीं डरेंगे,

उस मातृभूमि की धूल में,
जब पूरे सज जायंगे।
होकर भव-बन्धन-मुक्त हम,
रूपात्मा अब न जायंगे॥

मां कह एक कहानी

"मां, कह एक कहानी"।
"बेटा समझ लिया क्या तूने
मुझको अपनी नानी?"
"कहती है मुझसे यह चेटी!
तू मेरी नानी की बेटी!
कह माँ, कह, लेटी ही लेटी,
राजा था या रानी?
राजा था या रानी?
मां कह एक कहानी।"
"तू है धी मेरे,
सुन, उपवन में बड़े सबेरे,
तात भ्रमण कर थे तेरे,
जहां सुरभि मनमानी"
"जहां सुरभि मनमानी?
हां, मां, यही कहानी।"
वर्ण वर्ण के फूल खिले थे,
झलमल करहिम-बिन्दु झिले थे,
हलके झोंके हिले-मिले थे,
लहराता था पानी।"
लहराता था पानी?
हां, हां, यही कहानी।"

"गाते थे खग कल कल स्वर से,
सहसा एक हंस ऊपर से,
गिरा, बिद्ध होकर खर-शर से,
हुई पक्ष की हानी ?"
हुई पक्ष की हानी ?
करुणा-भरी कहानी ।"
"चौंक उन्होंने उसे उठाया,
नया जन्म-सा उसने पाया,
इतने में आखेटक आया,
"लक्ष्य-सिद्धि का मानी ।"
लक्ष्य-सिद्धि का मानी ?
कोमल-कठिन कहानी ।"
"मांगा उसने आहत पक्षी,
तेरे तात किन्तु थे रक्षी,
तब उसने, जो था खग-भक्षी—
"हठ करने की ठानी ।"
"हठ करने की ठानी ?
अब बढ़ चली कहानी ।"
"हुआ विवाद सदय-निर्दय में,
उभय आग्रही थे स्वविषय में,
गई बात तब न्यायालय में,
सुनी सभी ने जानी ।"
"सुनी सभी ने जानी ?
व्यापक हुई कहानी ।"
"राहुल, तू निर्णय कर इसका—
न्याय पक्ष लेता है किसका ?

कह दे निर्भय, जय हो जिसका।
सुन लूं तेरी बानी।"
"मां मेरी क्या बानी?
मैं सुन रहा कहानी।"
"कोई निरपराध को मारे,
तो क्यों अन्य उसे न उबारे?
रक्षक पर भक्षक को वारे,
न्याय दया का दानी।"
"न्याय दया का दानी?
तूने गुनी कहानी।"

कैकेयी का परिताप

"यह सच है तो अब लौट चलो तुम घर को।"
चौंके सब सुन कर अटल कैकेयी-स्वर को।

सब ने रानी की ओर अचानक देखा,
वैधव्य-तुषारावृता यथा विधु—लेखा।

बैठी थी अचल तथापि असंख्य तरङ्गा,
वह सिंही अब थी, हहा! गोमुखी गङ्गा—

"हां, जन कर भी मैंने न भरत को जाना,
सब सुन लें तुमने स्वयम् अभी यह माना,

यह सच है तो फिर लौट चलो घर भैय्या,
अपराधिन मैं हूँ तात, तुम्हारी मैय्या।

दुर्बलता का ही चिन्ह विशेष शपथ है,
पर अबलाजन के लिये कौन-सा पथ है?

यदि मैं उकसायी गयी भरत से होऊं,
तो पति समान ही स्वयम् पुत्र भी खोऊं।

ठहरो मत रोको मुझे—कहूं सो सुनलो—
पायओदि उसमें सार, उसे सब चुन लो।
करके पहाड़ सा पाप मौन रह जाऊँ?
राई भर भी अनुताप न करने पाऊँ?
थी समक्षत्र शशि-निशा ओस टपकाती,
रोती थी नीरव सभा हृदय थपकाती।
उल्का-सी रानी, दिशा दीप्त करती थी;
सब में भय विस्मय, और भेद भरती थी।
"क्या कर सकती मरी मन्थरा दासी?
मेरा ही मन रह सका न निज विश्वासी।
जल पञ्जर-गत अब अरे अधीर, अभागे,
वे ज्वलित भाव थे स्वयम् तुझी में जागे,
पर था केवल क्या ज्वलित भाव ही मन में?
क्या शेष बचा था कुछ न और इस जन में?
कुछ मूल्य नहीं वात्सल्य-मात्र क्या तेरा?
पर आज अन्य-सा हुआ वत्स भी मेरा!
थूके, मुझ पर त्रैलोक्य भले ही थूके,
जो कोई जो कह सके, कहे क्यों चूके!
छीने न मातृपद किन्तु भरत का मुझसे,
रे राम, दुहाई करूं और क्या तुझसे!
कहते आते थे यही अभी नर-देही,
'माता न कुमाता' पुत्र कुपुत्र भले ही।
अब कहें सभी यह हाय! विरुद्ध विधाता,
'है पुत्र पुत्र ही, रहे कुमाता माता।'
बस मैंने इसका वाह्य मात्र ही देखा,
दृढ़ हृदय न देखा, मृदुल गात्र ही देखा।

परमार्थ न देखा, पूर्ण स्वार्थ ही साधा,
इस कारण ही तो हाय आज यह बाधा !
युग युग तक चलती रहे कठोर कहानी—
'रघुकुल में भी थी एक अभागी रानी !'
निज जन्म जन्म में सुने जीव यह मेरा—
'धिक्कार उसे था महा स्वार्थ ने घेरा।'
"सौ बार धन्य वह एक लाल की माई,
जिस जननी ने है जना भरत सा भाई।"
पागल-सी प्रभु के साथ सभा चिल्लायी
"सौ बार धन्य वह एक लाल की माई।"
"हा ! लाल ! उसे भी आज गंवाया मैंने।
विकराल कुयश ही यहां कमाया मैंने।
निज स्वर्ग उसी पर वार दिया था मैंने।
हर तुम तक से अधिकार लिया था मैंने।
पर वही आज यह दीन हुआ रोता है,
शङ्कित सबसे धृत हरिण-तुल्य होता है।
श्रीखण्ड आज अङ्गार-चण्ड है मेरा ?
फिर इससे बढ़ कर कौन दण्ड है मेरा ?
पटके मैंने पद-पाणि मोह के नद में,
जन क्या क्या करते नहीं स्वप्न में, मद में ?
हा ! दण्ड कौन ? क्या उसे डरूँगी अब भी ?
मेरा विचार कुछ दयापूर्ण हो तब भी।
हा दया ! हन्त ! वह घृणा ! अहह वह करुणा !
वैतरणी-सी है आज जान्हवी-वरुणा !!
सह सकती हूँ चिर नरक सुनें सुविचारी,
पर मुझे स्वर्ग की दया दण्ड से भारी।

लेकर अपना यह कुलिश कठोर कलेजा,
मैंने इसके ही लिए, तुम्हें वन भेजा।
घर चलो इसी के लिए, न रूठो अब यों,
कुछ और कहूँ तो उसे सुनेंगे सब क्यों ?
मुझको यह प्यारा और इसे तुम प्यारे,
मेरे दुगुने प्रिय रहो न मुझ से न्यारे।
मैं इसे न जानूं, किंतु जानते हो तुम।
अपने से पहले इसे मानते हो तुम।
तुम भ्राताओं का प्रेम परस्पर जैसा,
यदि वह सब पर यों प्रकट हुआ है वैसा,
तो पाप-दोष भी पुण्य-तोष है मेरा,
मैं रहूं पङ्किला, पद्म-कोष है मेरा।
आगत ज्ञानी जन, उच्च भाल ले ले कर,
समझावें तुमको अतुल युक्तियां देकर,
मेरे तो एक अधीर हृदय है बेटा,
उसने फिर तुमको आज भुजा भर भेटा।
देवों की ही चिरकाल नहीं चलती है।
दैत्यों की भी दुर्वृत्ति यहां फलती है।"

कुणाल का त्याग

अयि जीवन की ज्योती !
मैं अन्धा भी देख रहा हूं रोती हो तुम, रोती !

क्या कुणाल को दीन जान कर,
मन में करुणा क्लेश मानकर,
नयन शुक्तियों में समान भर,
देती हो ये मोती ?
अयि जीवन की ज्योती !

प्रिये आज तो त्याग दिवस है,
सुख ही नहीं, दुःख भी बस है।
वह भी एक नया ही रस है,
तुम क्यों कातर होती ?
अयि-जीवन की ज्योति !

गेह गया पर विश्व बड़ा है,
सभी ओर पथ खुला पड़ा है।
लोक जाय, परलोक खड़ा है
चलो, सींचती – बोती !
अयि जीवन की ज्योती !

विश्व प्रेम

मैत्री — करुणा में कल्याण,
विश्व बन्धुता में ही त्राण ।

देश, काल, गुण, कर्म स्वभाव,
ये शाखाओं के अलगाव ।
खोलो तनिक मूल — प्रस्ताव,
तोलो साधन के परिणाम
विश्व बन्धुता में हो त्राण ।

आकृति, वर्ण और बहु वेष,
ये सब निज वैचित्र्य विशेष ।
डालो अन्तर्दृष्टि निमेष,
देखो अहा ! एक ही प्राण,
विश्व बन्धुता में ही त्राण ।

वाद विनोद बनें प्रत्यक्ष,
रहें विभिन्न हमारे पक्ष ।
एक मोक्ष ही सबका लक्ष,
करो उसी की ओर प्रयाण,
विश्व-बन्धुता में ही त्राण ।

रुचि मूलक मानस के मन्थ,
भिन्न भिन्न अपने मत-पन्थ ।
रहें अनेक अपार्थिव ग्रन्थ,

मिलें एक के लाख प्रमाण,
विश्व-बन्धुता में ही त्राण।

पुरुष हो, पुरुषार्थ करो, उठो।

पुरुष क्या, पुरुषार्थ हुआ न जो:
हृदय की सब दुर्बलता तजो।
प्रबल जो तुममें पुरुषार्थ हो—
सुलभ कौन तुम्हें न पदार्थ हो?
प्रगति के पथ में विचरो उठो;
पुरुष हो, पुरुषार्थ करो, उठो॥

न पुरुषार्थ बिना कुछ स्वार्थ है;
न पुरुषार्थ बिना परमार्थ है;
समझो लो, यह बात यथार्थ है—
कि पुरुषार्थ वही पुरुषार्थ है।
भुवन में सुख-शांति भरो उठो;
पुरुष हो, पुरुषार्थ करो, उठो॥

न पुरुषार्थ बिना वह स्वर्ग है;
न पुरुषार्थ बिना अपवर्ग है।
न पुरुषार्थ बिना क्रियता कहीं,
न पुरुषार्थ बिना प्रियता कहीं।
सफलता वर-तुल्य वरो, उठो;
पुरुष हो, पुरुषार्थ करो उठो॥

न जिसमें कुछ पौरुष हो यहाँ—
सफलता वह पा सकता कहां ?
अपुरुषार्थ भयङ्कर पाप है ;
न उसमें यश है, न प्रताप है।
न कृमि–कीट–समान मरो, उठो ;
पुरुष हो, पुरुषार्थ करो, उठो ॥

मनुज जीवन में जय के लिए—
प्रथम ही दृढ़ पौरुष चाहिए।
विजय तो पुरुषार्थ बिना कहाँ,
कठिन है चिर जीवन भी यहां।
भय नहीं, भव–सिन्धु तरो, उठो,
पुरुष हो, पुरुषार्थ करो, उठो ॥

यदि अनिष्ट अड़े, अड़ते रहें।
विपुल विघ्न पड़ें, पड़ते रहें।
हृदय में पुरुषार्थ रहे भरा—
जलधि क्या, नभ क्या, फिर क्या धरा।
दृढ़ रहो, ध्रुव धैर्य धरो, उठो,
पुरुष हो, पुरुषार्थ करो, उठो ॥

यदि अभीष्ट तुम्हें निज सत्व है,
प्रिय तुम्हें यदि मान महत्व है।
यदि तुम्हें रखना निज नाम है,

जगत में करना कुछ काम है।
मनुज ! तो श्रम से न डरो, उठो ;
पुरुष हो, पुरुषार्थ करो, उठो ॥
प्रकट नित्य करो पुरुषार्थ को,
हृदय से तज दो सब स्वार्थ को।
यदि कहीं तुमसे परमार्थ हो—
यह विनश्वर देह कृतार्थ हो।
सदय हो, पर दुःख हरो, उठो ,
पुरुष हो, पुरुषार्थ करो, उठो ॥

जयशंकर प्रशाद'

'प्रसाद' जी हमारे साहित्य के सब से अधिक गम्भीर और दार्शनिक कवि थे। हिन्दी काव्य में छायावाद तथा भिन्न-तुकान्त कविता के ये जन्म दाता थे। इनकी कृतियों ने हमारे साहित्य की मान रक्षा की है, उसका मस्तक उन्नत किया है और विश्व-साहित्य में उसके लिये एक आदरणीय स्थान का निर्माण किया है।

इनका जन्म कांशी में सवत् १९४६ में हुआ था और मृत्यु संवत् १९९४ में। इनके पिता बाबू देवी प्रशाद जी कांशी के प्रसिद्ध रईस थे। संस्कृत-शिक्षा से उन्हें प्रेम था और स्वभाव के वे बड़े उदार थे। अनेक अभावग्रस्त और विद्याप्रेमी छात्रों को वे आर्थिक सहायता देकर संस्कृत अध्ययन के लिए प्रोत्साहित किया करते थे। प्राचीन संस्कृत और साहित्य के प्रति जो 'प्रशाद' जी के हृदय में आदर था वह उनके पिता की ही देन थी। 'प्रशाद' जी की शिक्षा अधिकतर घर पर ही हुई। इतिहास, बौद्ध साहित्य, दर्शनशास्त्र तथा उप निषदों से इन्हे बड़ा प्रेम था। इनका अध्ययन इन्होंने बड़े परिश्रम से किया था। कविता करने का शौक इन्हें बाल्यकाल से ही था। सात आठ वर्ष की अवस्था में ही ये कविता करने लगे थे। प्रारम्भ में ये व्रजभाषा में कविता किया करते थे, किन्तु शीघ्र ही समयानुसार खड़ीबोली की ओर प्रवृत होुए। इनकी

कविता में भाव की प्रधानता प्राप्त है। कहीं कहीं तो भाव इतना प्रमुख हो जाता है कि असली भाव विलुप्त सा हो जाता है। यह सब कुछ इनकी अत्यधिक विचारशीलता, दार्शनिकता तथा गहरी अनुभूति का फल है। इनकी कविता में लौकिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार के अनुराग का मार्मिक चित्रण है। इनके लौकिक प्रेम के वर्णन में प्रथम दर्शन, वियोग संतप्त विरह-वेदना, मधुर मिलन आदि सब का यथास्थान वासना से अछूता मनोरम चित्रण है। आध्यात्मिक अनुराग के वर्णन में ये अदृश्य प्रियतम की खोज में तत्पर एक प्रेमी के रूप में हमारे सम्मुख उपस्थित होते हैं। विश्व के कण कण में अपने आराध्य देव की सत्ता का अनुभव करते हैं, उसमें अभेद रूप में मिल जाने के लिए विकल हो उठते हैं, साक्षात्कार के अभाव के कारण एक गहरे सूनेपन का अनुभव करते हैं। यह विकलता, यह वेदना, सूनेपन का यह अनुभव मानव आत्मा की अन्तः शुद्धि का साधन है। दुःख की कसौटी पर कसी हुई, वासना और मलिनता से रहित हुई हुई मानव आत्मा के लिए अन्तिम मधुर मिलन का पथ सुगम हो जाता है। आध्यात्मिक जीवन के इन रहस्यमय तथ्यों के वर्णन में कवि की भाषा स्वभाविक तौर पर रहस्यमय हो गई है। 'प्रशाद' जी की कविता के भाव और भाषा दोनों अधिकांश में साधारण पाठकों की वस्तु नहीं। उन्हें समझने के लिए गहरे विचारों की क्षमता रखने वाला दिमाग और गहरी अनुभूति की क्षमता रखने वाला दिल चाहिए।

एक सफल कवि होने के अतिरिक्त 'प्रशाद' जी एक सफल नाटककार भी थे। ऐतिहासिक नाटक लिखने में ये सिद्ध-

हस्त थे। इसके अतिरिक्त हिन्दी उपन्यास और कहानी साहित्य की वृद्धि में इन्होंने सफल योग दिया है।

इनकी मुख्य रचनायें ये हैं :—

कविता—कानन-कुसुम, प्रेम-पथिक, झरना, लहर, आँसू, कामायनी।

नाटक—राज्यश्री, विशाख, अजातशत्रु, जनमेजय का नागयज्ञ, स्कन्दगुप्त, कामना, चन्द्रगुप्त।

उपन्यास—कंकाल, तितली।

कहानी—छाया, प्रतिध्वनि, नवपल्लव, आँधी, आकाशदीप

महाराणा का महत्व

बैठे बैठे वन-शोभा थे देखते—
अपनी लीला भूमि, सुगौरव कुञ्ज की।
सालुम्बापति आये, अभिवादन किया।
आर्यनाथ ने कहा—"कहो सर्दार जी,
समाचार है कैसा अब मेवाड़ का?"
कृष्णसिंह ने कहा—"देव ! इस प्रांत में
एक बार फिर अब आर्य्य-राज्य अब हो गया,
वीर राजपूतों की तलवारें खुलीं,
चमक रही मेवाड़-गगन में ज्वलित हो,
भाग रहे हैं भीत यवन मेवाड़ से।
राजन ! समाचार है सुखमय देश का,
अभी यवन का एक वृन्द बन्दी हुआ,
राज कुवँर ने भेजा है उनको यहाँ,
दुर्ग द्वार पर वे बन्दी हैं और भी,
सुनिये, उसमें है नवाब-पत्नि यहाँ।"

आर्यनाथ ने कहा—"किया किसने उसे
बन्दी ? स्त्री को क्षत्रिय देते दुःख नहीं।"
कृष्णसिंह ने कहा—"प्रभो, उस युद्ध में
जितने बन्दी हुए सभी भेजे गये।
अब जो आज्ञा मिले बस वही ठीक है,
वही किया जावेगा; पर यह बात भी
ध्यान कीजिये, वह वनिता है शत्रु की।
दिल्लीपति का सैनप हो आया यहाँ
जो रहीमखां अकबर का चिर मित्र है
उसकी ही परिणीता है यह सुन्दरी
इसका बन्दी रहना नैतिक दृष्टि से
ठीक नहीं क्या ? जब तक ये शांत हों।"
कहा तमक कर तब प्रताप ने—"क्या कहा
अनुचित बल से लेना काम सुकर्म है !
इस अबला के बल से होंगे सवल क्या ?
रण में टूटे ढाल तुम्हारी जो कभी
तो बचने के लिये शत्रु के सामने
पीठ करोगे ? नहीं, कभी ऐसा नहीं,
दृढ़-प्रतिज्ञ यह हृदय, तुम्हारी ढाल बन
तुम्हें बचावेगा। इस पर भी ध्यान दो
घोर अँधेरे में उठती जब लहर हो
तुमुल घात-प्रतिघात पवन का हो रहा
भीमकाय जलराशि क्षुब्ध हो सामने
कर्णधार-रक्षित दृढ़-हृदय सु-नाव को
छोड़ कूदना तिनके का अवलम्ब ले
घोर सिन्धु में क्या बुधजन का काम है ?

परम सत्य को छोड़ न हटते वीर हैं।
सालुम्बाधिपते ! क्या अब होगा यही
क्षुद्रकर्म्म इस धर्मभूमि मेवाड़ में ?
और 'अमर' ने ही नायक होकर स्वयं
किया अधम इस लज्जाकर दुष्कर्म्म को !
बस बस, ऐसे समाचार न सुनाइये
शीघ्र उसे उसके स्वामी के पास अब
भेज दीजिये, बिना एक भी दुःख दिये।
सैनिक लोगों से मेरा संदेश यह
कहिये कभी न कोई क्षत्रिय आज से
अबला को दुःख दे, चाहे हों शत्रु की।

किरण

किरण ! तुम क्यों बिखरी हो आज,
रँगी हो तुम किसके अनुराग ?
स्वर्ण-सरसिज किंजल्क समान,
उड़ाती हो परमाणु-पराग।

धरा पर झुकी प्रार्थना-सदृश,
मधुर मुरली-सी फिर भी मौन,
किसी अज्ञात विश्व की बिकल-
वेदना-दूती-सी तुम कौन ?

अरुण शिशु के मुख पर सविलास
सुनहली-लट घुँघराली कान्त,
नाचती हो—जैसे तुम कौन ?
उषा के अँचल में अश्रान्त।

भला, उस भोले मुख को छोड़
चली हो किसे चूमने भाल,
खेल है कैसा—या है नृत्य ?
कौन देता है सम पर ताल ?

कोकनद मधुर धारा—सी तरल,
विश्व में बहती हो किस ओर ?
प्रकृति को देती परमानन्द,
उठा कर सुन्दर सरस हिलोर।

स्वर्ग के सूत्र-सदृश तुम कौन ?
मिलाती हो उससे भूलोक
जोड़ती हो कैसा सम्बन्ध—
बना दोगी क्या बिरज, विशोक ?

सुदिनमणि—वलय विभूषित उषा—
सुन्दरी के कर का संकेत,
कर रही तुम किसको मधुर,
किसे दिखलाती प्रेम-निकेत ?

चपल, ठहरो—कुछ लो विश्राम,
चल चुकी हो पथ शून्य अनन्त
सुमन-मन्दिर के खोलो द्वार,
जगे फिर सोया-वहाँ बसन्त

पतझड़-समीर

चल बसंत-बाला-अंचल से किस घातक सौरभ में मस्त
आतीं मलयानिल की लहरें जब दिनकर होता है अस्त।
मधुकर से कर संधि, विचर कर उषा नदी के तट-उस पार'
चूसा रस पत्ती-पत्ती से, फूलों का दे लोभ अपार।
लगे रहे जो अभी डाल से बने आभरण फूलों के,
अवयव थे श्रृंगार रहे, जो मनमाला के भूलों से।
आशा देकर गले लगाया, रुके न वे फिर रोके से,
उन्हें हिलाया, बहकाया भी, किधर उड़ाया झोंके से।
कुम्हलाए, सूखे, ऐंठे, फिर गिरे अलग हो वृन्तों से,
वे निरीह मर्माहत होकर, कुसुमाकर से कुन्तों से।
नवपल्लव का सृजन! तुच्छ है, किया वात से वध जब क्रूर,
कौन फूल-सा हँसना देखे, वे अतीत से भी अब दूर।
लिखा हुआ उनकी नस नस में इस निर्दयता का इतिहास,
तू अब 'आह' बनी घूमेगी, उनके अवशेषों के पास।

अव्यवस्थित

विश्व के नीरव निर्जन में,
जब करता हूं केवल चंचल
मानस को कुछ शान्त,
होती है कुछ ऐसी हलचल
तब होता है भ्रान्त—

भटकता है भ्रम के बन में
विश्व के कुसुमित कानन में।
जब लेता हूं आभारी हो
बल्लरियों से दान,
कलियों की माला बन जाती
अलियों का हो गान,

विकलता बढ़ती हिमकन में,
विश्वपति तेरे अगन में।
जब करता हूँ कभी प्रार्थना
कर संकलित विचार,
तभी कामना के कंकण की
हो जाती झनकार

चमत्कृत होता हूं मन में
विश्व के नीरव निर्जन में

——— —

आदेश

कौन कहता है कानों में
किसी का कहना तू मत मान।
अन्ध विश्वास दिलाते वे,
इसी में बनते हैं विद्वान॥

शुद्ध मानस की लहरी लोल,
पंक्तियाँ पावन लिखीं विचित्र ।
छोड़ ममता पढ़ ले इसको,
यही है शुभ आदेश महान ॥

तोड़ कर बाधा बन्धन भेद,
भूल जा अहमिति का यह स्वार्थ ।
सुधा भर ले जीवन घट में,
द्वन्द्व का विष मत कर तू पान ॥

प्रार्थना और तपस्या क्यों ?
पुजारी किसकी है यह भक्ति ।
डरा है तू निज पापों से,
इसी से करता निज अपमान ॥

दुखी पर करुणा क्षण भर हो,
प्रार्थना पहरों के बदले ।
मुझे विश्वास है कि वह सत्य,
करेगा आकर तव सम्मान ॥

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

ये अपनी शैली के निराले कवि हैं। इनका उपनाम 'निराला' है। नवीन युग के प्रवर्तकों में इनका नाम आदर से लिया जाता है!

इनका जन्म महिषादल रियासत (मेदनीपुर-बंगाल) में संवत् १९५५ में हुआ था। इनके पिता प० रामसहाय जी त्रिपाठी रियासत के एक राज्य कर्मचारी थे। इनकी शिक्षा का प्रबन्ध रियासत की ओर से किया गया था। स्कूल में ये मैट्रिक्यूलेशन तक पढ़े। स्कूल छोड़ने के बाद इन्होंने संस्कृत साहित्य, संगीत और दर्शन का बहुत परिश्रम से अध्ययन किया और थोड़ी देर में ही इन में अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। ये अभी २० वर्ष के ही थे कि इनकी पत्नी का देहान्त हो गया। इस दुर्घटना के बाद ये कलकत्ते चले आये और अद्वैताश्रम में रहने लगे। वहां इन्हें श्रीरामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानन्द की दार्शनिकता के अध्ययन का सुअवसर मिला। वहां इन्होंने दो वर्ष तक 'समन्वय' का सम्पादन भी किया। इसके बाद कुछ दिनों तक हिन्दी के प्रसिद्ध साप्ताहिक 'मतवाला' में भी काम करते रहे।

ये छोटी अवस्था में ही कविता करने लगे थे। इनकी मातृभाषा बंगला थी। इस लिए स्वाभाविक तौर पर ये पहले बंगला में ही कविता करते थे। हिन्दी में इनकी प्रवृत्ति स्कूल छोड़ने के बाद हुई थी। खड़ी बोली में अतुकान्त कविता लिखने

में ये सिद्ध हस्त हैं। इससे इन्हें पर्याप्त यश की भी प्राप्ति हुई है। हम ऊपर लिख चुके हैं कि ये अपनी शैली के निराले कवि हैं। यह निरालापन इनकी भाषा और भाव दोनों में विद्यमान है। अपने संगीत कौशल से इन्होंने पूरा २ लाभ उठाया है और इसकी सहायता से इन्होंने अनेक नवीन छन्दों की सृष्टि की है। इस स्वच्छन्दता का पहिले बड़ा विरोध हुआ था। परन्तु धीरे धीरे अन्य कवियों के भी इसी ओर आजाने पर यह शान्त होगया। अब आलोचक इसे उस पुरानी कड़ी दृष्टि से नहीं देखते। इनके भावों में भी नवीनता है। दार्शनिकता की इनमें प्रधानता है। ये अपनी दार्शनिकता की स्फुट अभिव्यक्ति के पक्ष में नहीं हैं। संकेत से काम लेने में इन्हें विशेष संतोष होता है। इनकी कविता में आध्यात्मिकता की भी मात्रा प्रचुर रहती है। इन अनेक कारणों से इनके काव्य में क्लिष्टता आगयी है इनकी अनेक रचनाएं दुरूह और परिश्रम से समझ में आने वाली होती हैं। कवि होने के अतिरिक्त 'निराला' जी एक सफल गद्य लेखक भी हैं। गद्य में इन्होंने अनेक निबन्ध, कथा और उपन्यास आदि लिखे हैं।

इनकी मुख्य २ रचनाएं ये हैं।

काव्य—अनामिका, परिमल, गीतिका, तुलसीदास, कुकुरमुत्ता। अणिमा नाम से इनकी कविताओं का एक नवीन संग्रह प्रकाशित हुआ है।

उपन्यास—अप्सरा, अलका, निरुपमा, प्रभावती।

गल्प— लिल्ली, सखी।

आलोचना—रविन्द्रकविताकानन।

प्रभाती

प्रिय, मुद्रित दृग खोलो !
गत स्वप्न-निशा का तिमिर जाल
नव किरणों से धोलो—
मुद्रित दृग खोलो !

जीवन-प्रसून वह वृन्तहीन
खुल गया उषा-नभ में नवीन,
धाराएं ज्योति-सुरभि उर भर
बह चलीं चतुर्दिक कर्म-लीन
तुम भी निज तरुण-तरङ्ग खोल
नव अरुण-सङ्ग होलो—
मुद्रित दृग खोलो !

वासना-प्रेयसी बार बार
श्रुति-मधुर मन्द स्वर से पुकार
कहती, प्रतिदिन के उपवन के
जीवन में, प्रिय, आई बहार
बहती इस विमल वायु में
वह चलने का बल तोलो—
मुद्रित दृग खोलो !

भारत की विधवा

वह इष्ट देव के मन्दिर की पूजा-सी,
वह दीप-शिखा-सी शान्त, भाव में लीन,
वह क्रूर काल ताण्डव की स्मृति रेखा-सी,
वह टूटे तरु की छुटी लता-सी दीन—
दलित भारत की ही विधवा है।
षड् ऋतुओं का शृङ्गार,
कुसुमित कानन में नीरव पद-संचार,
अमर कल्पना में स्वच्छन्द विहार—
व्यथा की भूली हुई कथा है,
उसका एक स्वप्न अथवा है।
उसके मधु-सुहाग का दर्पण,
जिनमें देखा था उसने
बस एक बार बिम्बित अपना जीवन-धन,
अबल हाथों का एक सहारा—
लक्ष्य जीवन का प्यारा—वह ध्रुवतारा—
दूर हुआ वह बहा रहा है
उस अनन्त पथ से करुणा की धारा।
हैं करुणा-रस से पुलकित इसकी आंखें,
देखा तो भीगी मन-मधुकर की पांखें,
मृदु रसावेग में निकला जो गुञ्जार
वह और न था कुछ, था बस हा-हा कार।

उस करुणा की सरिता के मलिन-पुलिन पर,
लघु टूटी हुई कुटी का मौन बढ़ा कर,
अति छिन्न हुए भीगे अञ्चल में मन को—
मुख-रूखे,सूखे अधर—त्रस्त चितवन को
वह दुनियां की नजरों से दूर बचाकर
है रोती अस्फुट स्वर में,
सुनता है आकाश धीर, निश्चल समीर—
मृदु सरिता की लहरें भी ठहर-ठहर कर।
यह दुःख वह, जिसका नहीं कुछ छोर है,
दैव! अत्याचार कैसा घोर और कठोर है!
क्या कभी पोछे किसी के अश्रु जल?
या किया करते रहे सब को विकल!
ओसकण-सा पल्लवों से झर गया
जो अश्रु, भारत का उसी से सर गया॥

भिक्षुक

वह आता—
दो टूक कलेजे के करता,पछताता पथ पर आता।
पेट पीठ दोनों मिलकर हैं एक,
चल रहा लकुटियां टेक,
मुट्ठी भर दाने को, भूख मिटाने को
मुँह फटी पुरानी झोली का फैलाता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता॥

साथ दो बच्चे भी हैं सदा हाथ फैलाए,
बांए से वे मलते हुए पेट को चलते,
और दाहिने दया-दृष्टि पाने की ओर बढ़ाए।
भूख से सूख ओंठ जब जाते,
दाता भाग्य विधाता से क्या पाते—
घूँट आंसुओं के पीकर रह जाते।

चाट रहे जूठी पत्तल वे कभी सड़क पर खड़े हुए,
और झपट लेने को उनसे कुत्ते भी हैं अड़े हुए।
ठहरो, अहा मेरे हृदय में है अमृत, मैं सींच दूंगा,
अभिमन्यु जैसे हो सकोगे तुम
तुम्हारे दुःख मैं अपने हृदय में खींच लूंगा।

उद्बोधन

गरज गरज घन अन्धकार में गा अपने संगीत,
बन्धु, वे बाधा-बन्धु विहीन,
आंखों में नव जीवन की तू अञ्जन लगा पुनीत,
बिखर झर जाने दे प्राचीन

बार बार उर की वीणा में कर निष्ठुर झङ्कार
उठा तू भैरव निर्जन राग,
बहा उसी स्वर में सदियों का दारुण हाहाकार
सञ्चरित कर नूतन अनुराग।

मन्द्र उठा बन्द-बन्द पर जलने वाली तान,
विश्व की नश्वरता कर नष्ट,
जीर्ण-शीर्ण जो, दीर्ण धरा में प्राप्त करे अवसान,
रहे अवशिष्ट सत्य जो स्पष्ट।
छोड़, छोड़ दे शङ्काएं, रे निर्झर-गर्जित वीर।
उठा केवल निर्मल निर्घोष;
देख सामने, बना अचल उपलों को उत्पल, धीर!
प्राप्त कर फिर नीरव सन्तोष!
भर उद्दाम वेग से बाधाहर तू कर्कश प्राण,
दूर कर दे दुर्बल विश्वास,
किरणों की गति से आ, आ तू, गा तू गौरव गान,
एक कर दे पृथ्वी-आकाश।

उत्साह

बादल, गरजो!—
घेर घेर घोर गगन, धाराधर ओ।
ललित ललित, काले घुंघराले,
बाल कल्पना के-से पाले,
विद्युत-छवि उर में, कवि, नव जीवन वाले।
वज्र छिपा, नूतन कविता
फिर भरदो:—
बादल, गरजो!

विकल विकल, उन्मन थे उन्मन,
विश्व के निदाघ के सकल-जन,
आये अज्ञात दिशा से अनन्त के घन !
तप्त धरा, जल से फिर
शीतल करदो.—
बादल गरजो !

महत्वाकांक्षा

नर-जीवन के स्वार्थ सकल
बलि हों तेरे चरणों पर मां,
मेरे श्रम-सञ्चित सब फल

जीवन के रथ पर चढ़ कर,
सदा मृत्यु-पथ पर बढ़ कर,
महाकाल के खरतर शर सह
सकूँ, मुझे तू कर दृढ़तर;
जागे मेरे उर में तेरी
मूर्ति अश्रु-जल धौत विमल,
दृग-जल से पा बल, बलि करदूँ
जननि, जन्म-श्रम-संचित फल ।

बाधाएँ आए तन पर
देखूँ तुझे, नयन-मन भर,
मुझे देख तू सजल दृगों से
अपलक, उर के शतदल पर;
क्लेदयुक्त अपना तन दूँगा,
मुक्त करूँगा तुझे अटल,
तेरे चरणों पर देकर बलि
सकल श्रेय श्रम-संचित फल।

समित्रानंदन 'पन्त'

इनका जन्म कौसानी जिला अल्मोड़ा में संवत् १९५८ में हुआ था। इनके पिता का नाम प० गँगादत्त पंत और माता का श्री सरस्वती देवी था। १९ वर्ष की अवस्था में इन्होंने इन्ट्रैन्स पास किया और उसके बाद म्योर सेन्ट्रल कालिज में भर्ती होने के लिए ये प्रयाग चले आए। ऐफ० ए० की परीक्षा देने से पहिले ही इन्होंने कालिज छोड़ दिया और उसके बाद घर पर ही अपनी रुचि के अनुकूल साहित्य-अध्ययन का सतत अभ्यास करते रहे। इन्होंने संस्कृत, हिन्दी, बंगला और अंगरेजी साहित्य का अध्ययन बड़े प्रेम और परिश्रम से किया है। इस विस्तृत अध्ययन से इनकी स्वाभाविक प्रतिभा के विकास में बड़ी सहायता मिली है।

'प्रसाद' और 'निराला' की तरह 'पंत' जी ने अपनी कविता में छन्द, भाषा और भाव—इन तीनों के सम्बन्ध में पूर्ण स्वतन्त्रता से काम लिया है। नवीन छन्दों की रचना के साथ साथ भाषण के खरखरापन को दूर कर उसमें मधुर कोमल कान्त पदावली की प्रतिष्ठा करने का इन्होंने सफल प्रयत्न किया है। किन्तु भाषा सम्बन्धी बन्धनों के तोड़ने की धुन में कहीं कहीं इन्होंने मर्यादा को भी जवाब दे दिया है शब्दों के लिंग परिवर्तन में जिस स्वतन्त्रता का इन्हों ने परिचय दिया है,

यत्न करने पर भी हिन्दी-जगत् उसे पूर्णतया अपनाने में असमर्थ हुआ है। इनके भावों की नूतनता और अलँकारिता हिन्दी साहित्य की अमूल्य संपत्ति है।

'पंत' जी प्राकृतिक सौन्दर्य के अनन्य भक्त हैं। इस सौन्दर्य के जितने सजीव और मनोमुग्धकारी चित्र इनकी रचनाओं में बन पड़े हैं, अन्यत्र नहीं। प्रकृति और मानवता के बीच एक मधुर संबन्धो की सत्ता में इनका अटल विश्वास है। जिस तरह अगरेजी के प्रसिद्ध कवि वर्ड्सवर्थ अपने आप में प्राकृतिक साहचर्य का पूरा आनन्द लेने की क्षमता रखते थे, ठीक उसी प्रकार से प्रकृति देवी की गोद में विकास को प्राप्त हुई 'पंत' जी की अलौकिक प्रतिभा प्रकृति और मानव के बीच पूर्ण समन्वय का अनुभव करती है। प्रकृति के हर्ष विषाद, विस्मय, संकोच स्मृति आदि इन के हृदय को उसी प्रकार प्रभावित करते हैं जिस प्रकार मानवता के हर्ष, विषाद आदि भाव।

'पंत' जी युगान्तरकारी कवि हैं। उत्कृष्ट कल्पना और सुकुमार भावना इन के काव्य की विशेषता है। जिस छायावादी कविता को 'प्रसाद' जी ने जन्म दिया था, 'पंत' जी की रचनाओं द्वारा उसकी विशेष उन्नति हुई है।

वीणा, ग्रन्थि, उच्छ्वास पल्लव, गुंजन, युगान्त, युगवाणी आदि इन की अनेक रचनाएं प्रसिद्ध हैं।

कामना

मेरा प्रतिपल सुन्दर हो,
प्रतिदिन सुन्दर सुखकर हो,
यह पल पल का लघु जीवन
सुन्दर, सुखकर शुचितर हो!
हों बूंदे अस्थिर, लघुतर,
सागर में बूंदे सागर,
यह एक बूंद जीवन का
मोती सा सरस, सुघर हो!

मधु ऋतु के कुसुम मनोहर,
कुसुमों की ही मधु प्रियतर,
यह एक मुकुल मानस का
प्रमुदित, मोदित, मधुमय हो!
मेरा प्रतिपल निर्भय हो,
निःसँशय, मंगलमय हो
यह नव-नव पल का जीवन
प्रतिपल तन्मय, तन्मय हो!

मूक संदेश

गाता खग प्रातः उठकर
सुन्दर, सुखमय जग-जीवन,
गाता खग सँध्या-तट पर
मँगल, मधुमय जग-जीवन।

कहती है अपलक तारावलि
अपनी आँखों का अनुभव,
अवलोक आंख आंसू की
भर आतीं आँख नीरव !

हंसमुख प्रसून सिखलाते
पल भर है, जो हँस पाओ,
अपने उर की सौरभ से
जग का आंगन भर जाओ।

उठ-उठ लहरें कहतीं यह
हम कूल विलोक न पावें,
पर इस उमंग में बह-बह
नित आगे बढ़ती जावें।

कंप कंप हिलोर रह जाती—
रे मिलता नहीं किनारा।
बुद्बुद् विलीन हो चुपके
पा जाता आशय सारा।

सुख-दुःख

मैं नहीं चाहता चिर-सुख
चाहता नहीं अविरत-दुःख;
सुख-दुख की खेल मिचौनी
खोले जीवन अपना मुख
सुख-दुख के मधुर मिलने से
यह जीवन हो परिपूरन:

फिर घन में ओझल हो शशि,
फिर शशि से ओझल हो घन।

जग पीड़ित है अति-दुख से,
जग पीड़ित रे अति सुख से,
मानव- जग में बंट जावें
दुख सुखसे औ, सुख दुख से।

अविरत दुख है उत्पीडन,
अविरत सुख भी उत्पीडन,
दुख-सुख की निशा-दिवा में
सोता जगता जग जीवन,

यह साँझ- उषा का आँगन,
आलिंगन विरह- मिलन का;
चिर हास–अश्रु मय आनन
रे इस मानव–जीवन का।

दुःख की देन

कुसुमों के जीवन का पल
हँसता ही जग में देखा,
इन म्लान, मलिन अधरों पर
स्थिर रही न स्मिति की रेखा।

वन की सूनी डाली पर
सीखा है कलि ने मुस्काना-,
मैं सीख न पाया अब तक
सुख से दुख को अपनाना।

काँटों से कुटिल भरी हो
यह जटिल जगत की डाली,
इस में ही तो जीवन के
पल्लव की फूटी लाली।

अपनी डाली के कांटे
वेधते नहीं अपना तन;
सोने-से उज्जवल बनने
तपता नित प्राणों का धन।

दुख-दावा से नव-अंकुर
पाता जग-जीवन का बन,
करुणाद्र विश्व की गर्जन
बरसाती नव-जीवन-कण।

जीवन का अधिकारी

जो है समर्थ जो शक्तिमान,
जीने का है अधिकार उसे।
उसकी लाठी का बैल विश्व,
पूजता सभ्य-संसार उसे।
दुर्बल का घातक दैव स्वयं,
समझो बस भू का भार उसे।
'जैसे को तैसा'—नियम यही,
होना ही है संहार उसे।
है दास परिस्थितियों का नर,
रहना उसके अनुसार उसे।
जीता है योग्य सदा जग में,
दुर्बल ही है आहार उसे।

तृण, झष, पशु से नर-तन देता,
जीवन-विकास का तार उसे।
वह शासन क्यों न करे भू पर,
चुनना है सब का सार उसे।

छाया—

कहो कौन हो दमयन्ती-सी
तुम तरु के नीचे सोई ?
हाय ! तुम्हें भी त्याग गया क्या ?
अलि ! नल-सा निष्ठुर कोई !

पीले-पत्रों की शय्या पर
तुम विरक्ति-सी, मूर्छा-सी—
विजन-विपिन में कौन पड़ी हो
विरह-मिलन दुख-विधुरा-सी ?

पछतावे की परछांई-सी
तुम भू पर छाई हो कौन ?
दुर्बलता-सी अङ्गड़ाई-सी,
अपराधी-सी भय से मौन !

निर्जनता के मानस-पट पर
—बार बार भर ठण्डी-सांस—
क्या तुम छिप कर क्रूर-काल का
लिखती हो अकरुण इतिहास ?

सखि ! भिखारिणी-सी तुम पथ पर,
फैला कर अपना अञ्चल,
सूखे-पातों ही को पा क्या
प्रमुदित रहती हो प्रतिपल ?

ज्योतिर्मय शत-नयन खोल नित,
पुलकित-पलक पसार अपार,
श्रान्त-यात्रियों का स्वागत क्या
करती हो तुम बारम्बार ?

थके चरण-चिन्हों को अपनी
नीरव-उत्सुकता से भर,
दिखा रही हो अथवा जग को
पर-सेवा का मार्ग अमर ?

दिनकर-कुल में दिव्य जन्म पा,
बढ़कर नित तरुवर के संग,
मुरझे पत्रों की साड़ी से
ढँक कर अपने कोमल अङ्ग;

सदुपदेश-सुमनों से तरु के
गूंथ हृदय का सुरभित-हार,
पर-सेवा-रत रहती हो तुम,
हरती नित पथ-श्रांति अपार ।

चूर्ण शिथिलता- अँगड़ा कर
होने दो अपने में लीन,
पर–पीड़ा से पीड़ित होना !
मुझे सिखा दो, कर मद–हीन ।

—::(-:o:-)::—

सियारामशरणगुप्त

इन का जन्म संवत १९५२ में चिरगांव ज़िला झांसी में हुआ था। ये हिन्दी के प्रसिद्ध कवि बाबू मैथिली शरण जी गुप्त के छोटे भाई हैं। इन्होंने अधिकतर विद्याभ्यास घर पर ही किया है। हिन्दी के अतिरिक्त बंगला, अङ्गरेजी, संस्कृत, गुजराती और मराठी साहित्य का भी इन्होंने अच्छा अध्ययन किया है। कविता करने की प्रवृत्ति इन्हें अपने पिता और बड़े भाई से मिली। सर्वप्रथम ये 'गुप्त' जी की देखरेख में कविता किया करते थे। इनकी पहली रचनाओं पर गुप्त जी का प्रभाव स्पष्ट दीख पड़ता है। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, स्वर्गीय श्री गणेश शंकर विद्यार्थी और मुन्शी अजमेरी के संसर्ग से भी इन्हें पर्याप्त प्रोत्साहन प्राप्त हुआ।

वर्तमान युग के खड़ी बोली के कवियों में इनका विशेष स्थान है। राष्ट्रीयता के गीत गाने वालों में इनकी रचनाए आदर की दृष्टि से देखी जाती हैं। उनमें देश व जाति के नवयुवकों की कल्पना को उत्तेजित करने की पर्याप्त क्षमता है। भाव प्रधान काव्य की रचना में भी इन्हें काफी सफलता मिली है। रहस्यवाद व छायावाद सम्बन्धी इनकी अनेक रचनाएं उच्चकोटि की हैं। साधारणतया इस प्रकार की रचनाओं में क्लिष्टता और अस्पष्टता का दोष आ जाता है किन्तु इनकी रचनाएं इस दोष से विमुक्त हैं। इनके काव्य में काव्य रस

की प्रधानता रहती है। मानव हृदय की भावना और कथा के चित्रण में ये सिद्धहस्त हैं। कविता के अतिरिक्त इन्होंने कहानी, नाटक और उपन्यास भी लिखे हैं। इनकी मुख्य रचनाएं ये हैं :—

काव्य—मौर्य विजय, अनाथ, पाथेय, आर्द्रा, दूर्वादल विषाद, उन्मुक्त।

कहानी—कोटर-कुटीर, मानुषी।

उपन्यास—गोद।

नाटक—पुष्पवर्षा।

गीतिनाट्य—निष्क्रिय-प्रतिरोध, कृष्णकुमारी।

सुजीवन

हे जीवन-स्वामी तुम हम को
जल-सा उज्ज्वल जीवन दो!
हमें सदा जल के समान ही
स्वच्छ और निर्मल मन दो!
रहें सदा हम क्यों न अतल में,
किन्तु दूसरों के हित पल में,
आवें अचल फोड़ कर थल में
ऐसा शक्ति पूर्ण तन दो!
स्थान न क्यों नीचे ही पावें,
पर तप में ऊपर चढ़ जावें,
गिर कर भी क्षिति को सरसावें,
ऐसा सत्साहस धन दो!

पूजन

पद-पूजन का भी क्या उपाय ?
तू गौरव-गिरि, उत्तुङ्गकाय !
तू अमल-धवल है, मैं श्यामल;
ऊंचे पर हैं तेरे पद-तल,
यह हूँ मैं नीचे का तृण-दल
पहुँचूं उन तक किस भांति हाय !
तू गौरव-गिरि, उत्तुङ्गकाय !
हों शत-शत झंझावात प्रबल,
फिर भी स्वभावतः तू अविचल।
मैं तनिक-तनिक में चिर-चञ्चल;
मेटूं कैसे यह अन्तराय !
तू गौरव-गिरि, उत्तुङ्गकाय !
अविरत तेरा करुणा-निर्झर
अगणित धाराओं से झर-झर,
जीवित, रखता है जीवन भर
मेरा यह जीवन जड़ितप्रायः
तू गौरव-गिरि उत्तुङ्गकाय!
हैं जहां अगम्य दिवाकर-कर
तेरे गह्वर भी आकर वर
हैं ऊँचों से भी ऊंचे पर;
मन उन तक भी किस भाँति जाय !
तू गौरव-गिरि उत्तुङ्गकाय !

शंख-नाद

(१)

मृत्युञ्जय, इस घट में अपना
कालकूट भर दे तू आज,
ओ मंगलमय, पूर्ण, सदाशिव,
रुद्र-रूप, धर ले तू आज!
चिर-निद्रित भी जाग उठे हम
कर दे तू ऐसी हुंकार;
मद-मत्तों का मद उतार दे
दुर्धर तेरे दंड प्रहार।
हम अंधे भी देख सकें कुछ,
धधका दे प्रलय-ज्वाला;
उसमें पड़कर भस्म शेष हो
है जो जड़ जर्जर निस्सार।
यह मृत-शांति असह्य हो उठी,
छिन्न इसे कर दे तू आज,
मृत्युञ्जय, इस घट में अपना
कालकूट भर दे तू आज!

(२)

ओ कठोर तेरी कठोरता
कर दे हम को कुलिश-कठोर;
विचलित कर न सके कोई भी
झंझा की दारुण झकझोर।

सिर के ऊपर के प्रहार सब
सुमन-समूह-समान झड़ ;
पैरों के नीचे के कांटे
मृदु मृणाल से जान पड़े ।
भय के दीप्तानल में धंसकर
उसे बुझा दें पैरों से ;
छाती खोल खुले में अड़कर
विपदाओं के साथ लड़ें ।
तेरा सुदृढ कवच पहने हम
घूम सकें चाहे जिस ओर ;
ओ कठोर तेरी कठोरता,
कर दे हमको कुलिश-कठोर ।

(२)

ओ दुस्सह, तेरी दुस्सहता
सहज सह्य हमको हो जाय
तेरे प्रलय-घनों की धारा
निर्मल कर हम को धो जाय
अशनि-पात में विघोषित हो,
विजय-घोष इस जीवन का ;
तड़त्तेज में चिर ज्योतिर्मय,
हो उत्थान-पतन तन का ।
बंधन-जाल तोड़कर सहसा
इधर-उधर के कूलों का ;
तेरी उच्छृंखल वन्या में
पागलपन हो इस मन का ।

निजता की संकीर्ण क्षुद्रता
तेरे सुविपुल में खो जाय ;
ओ दुस्सह, तेरी दुस्सहता
सहज-सह्य हमको हो जाय।

(४)

ओ कृतांत, हम को भी दे जा
निज कृतान्ता का कुछ अंश ;
नई सृष्टि के नवोल्लास में
फूट पड़े तेरा विभ्रंश
नव भूखंड अमृत के घट-सा
दे ऊपर की ओर उछाल,—
सागर सा अन्तस्तल मथकर
तेरे विप्लव का भूचाल।
जीर्ण-शीर्णता के दुर्गों को,
कुसंस्कार के स्तूपों को
ढा दे एक साथ ही उठकर,
दुर्जय तेरा क्रोध कराल।
कुछ भी मूल्य नहीं जीवन का
हो यदि उसके पास न ध्वंस,
ओ कृतान्त, हमको भी दे जा
निज कृतांतता का कुछ अंश।

(५)

ओ भैरव, कवि की वाणी का
मृदु माधुर्य लजा दे आज
वंशी के ओठों पर अपना
निर्मम शंख बजा दे आज।

नभ को छूकर दूर-दूर तक
गूंज उठे तेरा जय-नाद ;
घर के भीतर छिपे पड़े जो
बाहर निकल पड़ें साल्हाद ।
तिमिर-सिंधु में कूद, तैर कर
सु-प्रभात से उठ आवें ;
निखिल संकटों के भीतर भी
पावें तेरा पुण्य-प्रसाद ।
जीवन-रण के योग्य हमारा
निर्भय साज सजा दे आज ;
ओ भैरव, कवि की वाणी में
निर्मम शंख बजा दे आज

यात्री

(१)

कैसे पैर बढ़ाऊं मैं ?
इस घन-गहन-विजन के भीतर
मार्ग कहां जो जाऊं मैं ?
कुटिल-कटीले झंखाड़ों में
उत्तरीय उड़ कर मेरा
उलझ-उलझ जाता है, इसको
कहां कहां सुलझाऊं मैं ?
कहीं धँसी है धरा गर्त्त में,
कहीं चढ़ी है टीलों पर ;
मुक्त विहग-सा उड़ जाऊं जो
पंख कहां से लाऊं मैं ?

(२)

पंख कहाँ से लाऊं मैं ?
अरे, पैर ही क्या कुछ कम हैं
क्यों न अभी बढ़ जाऊं मैं ?
उत्तरीय का क्या, यह तनु भी
क्षतच्छिन्न हो जाने दूं ;
इन शत-शत काँटों में बिंध कर
लक्ष-लाभ निज पाऊँ मैं ;
गह्वर टीले इधर-उधर हैं ;
मुझ को पथ देने को ही ;
अपने इन पद चिन्हों पर ही
नूतन मार्ग बनाऊं मैं !
कुछ हो, पैर बढ़ाऊं मैं।

घट—

कुटिल कंकड़ों की कर्कश रज
मल-मल कर सारे तन में
किस निर्मम निर्दय ने मुझ को
बांधा है इस बन्धन में ?
फाँसी-सी है पड़ी गले में
नीचे गिरता जाता हूं ;
बार बार इस अन्ध-कूप में
इधर उधर टकराता हूं।

ऊपर-नीचे तम ही तम है
बन्धन है अवलम्ब यहां !
यह भी नहीं समझ में आता
गिर कर मैं जा रहा कहां !
कांप रहा हूं, भय के मारे
हुआ जा रहा हूं म्रियमाण,
ऐसे दुखमय जीवन से हा !
किस प्रकार पाऊं मैं त्राण ?
सभी तरह हूं विवश, करूं क्या
नहीं दीखता एक उपाय;
यह क्या ? यह तो अगम नीर है,
डूबा ! अब डूबा मैं हाय !
भगवन् ! हाय बचा लो अब तो,
तुम्हें पुकारूं मैं जब तक
हुआ तुरन्त निमग्न नीर में
आर्तनाद कर के तब तक ।
अरे, कहां वह गई रिक्तता
भय का भी अब पता नहीं,
गौरववान हुआ हूं सहसा,
बना रहूं तो क्यों न यहीं ।
पर मैं ऊपर चढ़ा जा रहा
उज्ज्वल तर जीवन लेकर,
तुम से उऋण नहीं हो सकता
यह नवजीवन भी देकर

उदयशंकर भट्ट

उदयशंकर भट्ट का जन्म कर्णवास जिला बुलन्दशहर में संवत् १९५५ में हुआ था। इनके पिता का नाम श्री फतेशंकर दुर्गाशंकर मेहता था। ये अधिकतर पंजाब में रहे हैं। यहीं इन्होंने शास्त्री परीक्षा पास करने के अनन्तर अनेक संस्थाओं में अध्यापन कार्य किया है।

संस्कृत हिन्दी के अतिरिक्त इन्होंने गुजराती और अंगरेजी साहित्य का भी अच्छा अध्ययन किया है।

भट्ट जी ने काव्य और नाटक—साहित्य के इन दोनों मुख्य अंगों का बड़ी सफलता पूर्वक शृंगार किया है। काव्य-क्षेत्र में ये बुद्धिवाद की पताका लेकर अवतीर्ण हुए हैं। भाग्यवाद अथवा कर्मवाद में इनकी आस्था नहीं है। मानव परिस्थितियों का दास न होकर स्वामी है, वह स्वयं अपने

भाग्य का निर्माता है, कर्मवाद की आड़ में उन्नति के पथ से उसे रोकने की कोशिश करना कोरी अध्यात्महीनता है—ऐसा ये मानते हैं। ये मानव के पुरुषार्थ में ही उसके उज्वल भविष्य का दर्शन करते हैं, केवल 'दयालु' प्रभु की दया पर आश्रित रहने में नहीं। इनके काव्य में समाज के रूढ़िगत बन्धनों, विश्व के प्रत्यक्ष अन्याय, और धर्म के सारहीन हिंसात्मक स्वरूप के प्रति उग्र विद्रोह की भावना के दर्शन होते हैं। दार्शनिकता, मौलिकता, और यथार्थता इनकी कविता की विशेषताएँ हैं। आधुनिक परिभाषा के अनुसार इनका काव्य प्रगतिवाद से सम्बन्ध रखता है। तक्षशिला, राका, मानसी विश्वामित्र, मत्स्यगन्धा, विसर्जन आदि इनकी रचनायें हिन्दी जगत में अच्छी ख्याति प्राप्त कर चुकी है। अमृत और विष तथा युग-दीप नाम से इन की नवीनतम कविताओं के संग्रह प्रकाशित हुए हैं। इनमें विश्व के इस भयंकर महायुद्ध की छाया स्पष्ट रूप से दीख पड़ती है। काव्य के अतिरिक्त नाटक क्षेत्र में भी भट्ट जी ने स्थायी आदर और यश प्राप्त किया है। हिन्दी में दुःखान्त नाटक सर्वप्रथम इन्होंने ही लिखे हैं। इन्हें अपनी पुस्तकों पर पंजाब सरकार की ओर से कई बार पुरस्कार भी मिल चुका है। विक्रमादित्य, दाहर, सगरविजय, अम्बा, कमला आदि इन की नाटक रचनायें प्रसिद्ध हैं। इन में से कई का पंजाब विश्वविद्यालय

की परीक्षाओं में स्थान मिल चुका है। मुक्ति-पथ इन की नवीनतम नाटक रचना है।

अध्यात्महीन जीवन

यह 'अध्यात्मवाद' नीरस के
जीवन की है मंजु कहानी,
जहां ईश्वर के बल पर नर
करता घर जानी मनमानी।
पूर्व-जन्म की पूर्व-कर्म की
उलझन में जय को भटकाता,
आलस, भोग और कर्मों की
दलदल फैला उसे गिराता।
गिरे हुए ही कुछ जन्में हैं
वे न उठ सके, उठ न सकेंगे,
वे परवश हैं पूर्व-कर्म-वश
भोगेंगे दुख छुट न सकेंगे।

वह पीड़ित हैं, व्यथित दुखी है
उसने शैशव से दुख देखा,
उसे बचा सकता कब कोई
जब कि भाग्य में ऐसी रेखा।

शत्रु अकारण दुख दे रहा
लूट रहा है, मार रहा है,
औ' न्यायी प्रभु देख रहा है
पर पद पद पर हार रहा है।

कुछ न कर सका पीड़ित के प्रति
कुछ न किया है अब तक उसने,
कुछ न करेगा आगे भी वह
निर्बल को देगा यों चुसने।

भूखों मरता है वह बालक
सब कुछ होते हुए यहां पर,
कौन पाप था, कौन कर्म था
बतलाया न कभी भी आकर

यह 'अध्यात्म' हीन जीवन हैं,
यही ढोंग है, आडम्बर है,
यहां न भूतल है, जल ही है
केवल उसका स्वर ही स्वर है।

जवीन-पथ

वह रवि कहां प्रकाशित होकर
भी मुझ में आलोक भर सका,
यह शीतल विधु किरणों द्वारा
युग युग का अज्ञान हर सका।
ये तारे गिन सके न मेरी
आहों को, ऋतु बदल न पाया,
मैं हूं कौन बोलता भीतर
जो मेरा जीवन बन आया ?
देखो, ज्यों दिन के छोरों पर
सुबह शाम की गाँठ लगी है,
उसी तरह जीवन में भी तो
दुख सुख की अभिव्यक्ति जगी है
कोई मुझ को कुछ कहता है,
कोई मुझ को कुछ कहता है
मैं अपने को कुछ कहता हूं
जग में क्या होता रहता है
जीवन मेरा एक गांठ है
जिस को जग सुलझा न सकेगा,
केवल मरण ज्ञान-धन बन कर
मेरी गुलझट खोल सकेगा।

इस अतीत के औ' भविष्य के
पंखों पर ज्यों वर्तमान है,
त्यों स्मृति, आशा के पंखों पर
उड़ता जीवन का विमान है।

आओ, मानव के अन्तर को
भर दो अमर अचल प्राणों से,
आओ, कल्प कल्प के धन ओ,
भर दो जीवन मुसकानों से।

आओ शत शत स्वर्गों के सुख
भर जाओ जग के अभिनय में,
आओ करुणा के कम्पित कण
भर जाओ जीवन की लय में।

जीवन श्वेत धार है जल की
जिस में कोई रंग नहीं है,
जिसमें निश्चित-स्वर्ग नहीं है
जिसमें निश्चित नरक नहीं है।

यह केवल मानव का श्रम है
जो सुख दुख निर्माण कर रहा,
आशा और निराशा में हंस
रोकर अपना प्राण भर रहा।

भूख और भोजन, जल तृष्णा
औषध रोग, गरीबी, दौलत,
भाव, अभाव, प्रेम औ' पीड़ा,
शीत, उष्ण, सुख दुख, अविपथ, पथ

लघु, विशाल, ऊंचे औ' नीचे
हीन, महिम में वही 'अह' है,
मूक और वाचाल, बधिर औ'
सुनने वाला मनुज स्वयं है।

कम चौड़ी दीवार दुर्ग सा
लम्बा एक पन्थ जीवन का
जिसके दायें बायें गहरा
मोहक सागर बहा जलन का।

कोई एक हजारों में ही
पार पन्थ कर पाता मानव,
बाकी डूब डूब कर सारे
चिल्लाते कराहते जब तब।

आज जगत की उथल-पुथल में

अरे, फेंक दो सुधा रसीली मैं अब विष पीने आया हूं,
किसी नशे की चाह नहीं, पी सर्वनाश जीने आया हूं।
भड़क-भड़क कर आग जगत् की पल को पीकर बढ़ती जाती,
किसी सृजन के लिए नाश के सोपानों पर चढ़ती जाती।

संचित मलयानिल से जिसने कलि के अधरों को खोला था,
रजनी के उन्मुक्त हृदय से जीवन जहां फूट बोला था।
जिसने सुख के मंदिर जीत में आशा का आसव घोला था,
जहां बड़ों ने गिरे हुये के क्रंदन से निज यश तोला था।

वहां आज यह उथल-पुथल क्यों वहां जली क्यों दावानल है,
अन्धा भी यह देख रहा है 'ऊंचे' की आंखों में जल है।
चिनगारियाँ तुच्छ सी उड़ क्यों नभ में आग लगाने चल दीं,
और चटक कर घास, फूंस, तरु के अरमान जलाने चल दीं,

आज कांप क्यों रही महल की नभ-चुम्बी यह शान न जाने!
आज झोंपड़ी के आगे क्यों मूर्छा से अरमान न जाने।
आज हिमालय से भी ऊंचे किसके जागे पाप न जाने!
डगमग हुआ नियति का आसन देखा क्या अभिशाप न जाने?

कौन पुकार रहा ऊंचे को 'नीचे आओ, नीचे आओ'
कौन कह रहा है स्वामी से, 'मेरे पैरों पर गिर जाओ।'
कौन कह रहा है सिंहासन लकड़ी के कुछ सुन्दर टुकड़े
कौन कह रहा है कानों में 'नृप के पैर धरा से उखड़े।'

बढ़ता ही जाता कोलाहल गिरता क्यों जाता है 'ऊंचा'?
उठता क्यों जाता है 'नीचा'? क्या से क्या हो गया समूचा!
क्या अम्बर के सभी गर्व मिल इसे धूल में मिला सकेंगे?
क्या विभूति के शतशत बल मिल पीड़ा-पर्वत हिला सकेंगे?

समय हुआ क्या अश्रु बिंदु में सागर समा जायेंगे सारे!
व्यथित हृदय की आहों में हो राख रहेंगे दिनकर, तारे!
समय हुआ क्या आज धर्म को आडम्बर से हटना होगा!
और रूढ़ियों को भविष्य की पातक में जल मिटना होगा!

समय हुआ क्या विषम हटाकर सम की लय पर गाना होगा!
या वैभव को महानाश में नामशेष हो जाना होगा!
देखो, सब विश्वास जगत् के एक फूँक में उड़े जा रहे,
देखो, सब जीवन परिवर्तन की लहरों से जुड़े जा रहे।
दिवस, दिवस भी जलते जा रहे रजनी के लघु अंगारों से,
और मरण भी लगे उगलने जीवन अपने उपचारों से।
भू-विस्फोट, मेघ-गर्जन, औ' सर्वनाश हम से कह जाते,
'महामरण' में महासृजन का क्या तुम कोई तार न पाते!'
आज देय भी उपादेय है आज गरल मेरा जीवन है,
आज प्राण की विकल मूर्छना नए काव्य का आवाहन है।
आज धूल में बीज मिलाना कल के कल्पद्रुम का फल है,
आज जगत् की उथल-पुथल में छिपा हमारा सुन्दर कल है।

मेरा बचपन

मैं गाड़ी से उतरा ही था कोई मुझे गुदगुदा भागा।
मुझे न था मालूम कहां मैं आया और कहां पर जागा।
मुँह में दिये अंगूठा पग का मैं कोने में पड़ा हुआ था।
मैंने देखा एक अनोखा सुघड़ खिलाड़ी खड़ा हुआ था।
घुटनों के बल मुझे नचाकर 'तिक-तिक' करता आया बचपन।
आप नाचकर मुझे नचाता एक नया जग लाया बचपन।
आंख मिचौनी खेल रहे थे हम दोनों फिर यह क्या पाया।
पकड़ने आगे दौड़ा वह पीछे ही कहीं बिलाया!।
पीछे मुड़ कर देखा मैंने देखा बचपन दूर खड़ा था।
मैं पीछे मुड़ सका न वह भी अपनी धुन में वहीं अड़ा था।
टूट गई कच्ची रस्सी सी उससे वहीं मित्रता मेरी।
किसी एक जादूगरनी ने आ जादू की लकड़ी फेरी।।

अब भी आंखें ढूंढ रही हैं रोज सुबह अल्हड़पन अपना।
अब भी आँखों में हंसता है उस मीठी दुनिया का सपना।
अरे इधर ही कहीं छिपी है सुघड़ खिलौनों भरी पिटारी।
जरा ढूंढ लाऊं मैं ठहरो, बचपन की वह मधुर खुमारी॥
अरे, कहां मैं भूला अपना सदा सुनहला बाग हरा सा?
कहाँ भूल आया हूं अपना वह बचपन संगीत भरा सा?
अब तो बचपन एक कहानी दादी जहां रोज घुस आती।
जहाँ रात को परियाँ आकर उड़नखटोले पर ले जाती॥
चलो भूल जाओ, वह अब तो कहीं हो गया मीठा सपना।
अब तो सम्मुख रात खड़ी है अब तो जीवन सदा कलपना।
कौन दौड़ ही सका यहां है पीछे को अपने जीवन में,
और पकड़ ही पाया किसने बीता जग आगे की धुन में?

जीवन झांकी

आज विवशताएं प्राणों की
एक नया तूफान लिये हैं,
बलिदानों की चिता सजाकर चिनगारी के गान लिये हैं!
कैसे रोक सकूं अन्तर के—
हाहाकार तुम्हारे स्मय से,
कैसे सतत पराजय रोकूं,
अपनी कल्पित क्षणिक विजयसे?

जीवन-महलों की नीवों में
शैशव के सुख गाड़ चुका हूं;
यौवन-कंगूरों से उड़ते
मीठे स्वप्न उखाड़ चुका हूँ,

आंधी तूफानों से बीते
वे दिन अब कुछ याद नहीं हैं,
आँखों में चुभती आंखों के
पुलकित पल आबाद नहीं हैं ;
कुछ स्मृतियां हैं भार हृदय की,
कुछ जीवन मुसकान लिये हैं ;
आज विवशतायें प्राणों की एक नया तूफान लिये हैं।
दिवस निशा के लम्बे पथ पर
हम युग युग से चलते आए,
चले जागते, चले सुप्त भी
थके, ठहरने किन्तु न पाये ;
पीछे कोई कहीं न साथी,
आगे का पथ ज्ञात नहीं है ;
फिर भी चलना यदपि अंधेरा,
रोके ऐसी रात नहीं है !
कहाँ चला हूं कब पहुँचूंगा
बिना लक्ष्य क्या चलते जाना !
कहीं किनारा नहीं दीखता
मेरा पन्थ दूर अनजाना :
अंग अंग टूटे जाते हैं,
सँगी सब छूटे जाते हैं ?
मेरे भग्न-स्वप्न से जग के
मीठे सपने टकराते हैं ;

अन्तिम पृष्ट उलट देने का
कोई खड़ा विधान लिये है;

आज विवशताएँ जीवन की एक नया तूफान लिये है।

ठहरो, एक नजर भी क्यों मैं
डाल न लूँ दुनियां के ऊपर ?
ठहरो, रुकने से पहले ही
क्यों न टटोलूँ, अन्तर के स्वर

पर पीछे मुड़ सकने का तो
जग में यहाँ विधान नहीं है,
कोई कहता—"चलो मुसाफिर,
पीछे रिक्तस्थान नहीं है" !

चलता हूँ, चलता जाता हूं
अँधकार में बढ़ता जाता;
आलम्बन लेकर अतीत का
निज आगत को घटता जाता;

देखो, ज्यों दिन के छोरों पर
सुबह शाम की गांठ लगी है;
इसी तरह जीवन कानों पर
गत, आगत अनुरक्ति जगी है;

इस अतीत के औ' भविष्य के
पँखों पर ज्यों वर्तमान है,
त्यों स्मृति, आशा के पँखों पर
उड़ता जीवन का विमान है;

कहीं लक्ष्य पर जा गिरने को
तीर चला संधान लिये है,
आज विवशताएँ प्राणों की एक नया तूफान लिये हैं।

अमृत और विष

हिम शृंगों से उच्च उमंगें,
यद्यपि साढ़े तीन हाथ तुम!
पोर पोर भूगोल तुम्हारे,
उड़ते रहे खगोल साथ तुम!

निद्रा से गाढ़ी अँधेरी,
एक श्वास में पीने वाले!
आज हो गये इतने बेबस,
उठा न पाते ज़रा माथ तुम!

उठो उठो, शोणित की धारें,
रोक नहीं पायेंगी पथ को।
नभचुम्बी अँगार दहकते,
रोकेंगे क्या मनु के रथ को?

दो छोरो में रात छिपी है,
दो जीवन के बीच मौत है।
उसे पार करना ही होगा,
"इति" है दूर न देखो "अथ" को।

विश्व युद्ध है, प्रकृति युद्ध है,
प्राण युद्ध है अरे प्रयोगी !
सदा तुम्हें तो बढ़ते जाना,
लड़ते जाना आत्म-नियोगी !

आंधी तूफानों से लड़कर,
लक्ष्य-वेध करना ही होगा—
पर्वा नहीं—शूल, वंशों से,
पटी हुई यह पृथ्वी होगी !

अमृत रखा सागर के तल में,
लहर लहर से लड़ना होगा !
बिन पतवार विना नैया के—
खारे जल में बढ़ना होगा ।

डूब गये ! फिर उछलो साहस—
साथी को मत खोना मानव ।
अमृत मिलेगा, गरल हटाओ,
हलाहल पी चलना होगा ।

उद्बोधन

अँधकार, अँधकार अँधकार, चीर चल !
उग रही उषा उधर, उग रहा दिन सकल !
रोक मत प्रकाश को, रोक मत विकास को,
रोक अश्रु हास को—मानव उच्छृंखल !
भूख है, अशान्ति है, युद्ध और क्रान्ति है,
क्रान्ति विश्व-शान्ति है—हो न तू निर्बल !

लड़ रहे आज ये, लड़ रहे राज ये,
स्वार्थ के समाज ये—खून के रच महल !
युद्ध है बाजार में, युद्ध है विचार में,
बाजार की पुकार में—युद्ध है आजकल !
आसमान फट रहे औ' श्मशान पट रहे,
तख्त भी उलट रहे—देखदेख पलपल !
मनुष्य मात्र एक है, मनुष्य ही विवेक है;
मार्ग यदि अनेक हैं,—लक्ष्य एक उज्ज्वल !
अँधकार, अँधकार, अँधकार, चीर चल ।

महादेवी वर्मा

इनका जन्म संवत् १९६४ में फरुखाबाद में हुआ था। इनके पिता बाबू गोविन्द प्रसाद वर्मा एक प्रसिद्ध वकील हैं। इनकी प्रारंभिक शिक्षा इन्दौर में हुई। इसके बाद ये प्रयाग आ गई और वहीं संवत् १९८५ में इन्होंने संस्कृत और फिलासफी लेकर बी, ए० की परीक्षा पास की। स्वास्थ्य कुछ ठीक न रहने के कारण इन्हें एक वर्ष तक अध्ययन छोड़ना पड़ा। दूसरे वर्ष इन्होंने संस्कृत में एम० ए० पास किया। चित्रकला और संगीत का इन्हें बड़ा शौक है। साहित्य जगत् में इनके गीतों की काफी प्रसिद्धि हो चुकी है। आजकल ये प्रयाग महिला विद्यापीठ में प्रिंसिपल और चांद की सम्पादिका हैं।

आजकल के रहस्यवादी कवियों में श्रीमती वर्मा जी का विशेष स्थान है। इनकी कृति में काव्य और कला—इन दोनों का अपूर्व सामञ्जस्य है। इनकी कविता में करुण वेदना और निराशा की प्रमुखता है। इसमें युग युग के प्रयत्नों के बाद भी अपने उपास्यदेव के मधुर, अवसाद रहित लोक तक पहुंचने में असमर्थ हृदय के सूनेपन के दर्शन होते हैं। दुःख और वेदना के प्रति इनके करुण हृदय में विशेष स्नेह है। दुःख के अपनाने में ये कवि का मोक्ष समझती हैं। दुःख

इनके अपने कथनानुसार, जीवन का एक ऐसा काव्य है जो सारे संसार को एक सूत्र में बांध रखने की क्षमता रखता है। वेदना का जितना मार्मिक और भावुक चित्रण इनकी रचनाओं में हो पाया है, दूसरे कवियों की कृतियों में नहीं। इनकी कविता में हो गहरी अनुभूति की अधिकता है और स्वाभाविक तौर पर कृत्रिमता का पूर्ण अभाव।

नीहार, रश्मि, नीरजा, सान्ध्य गीत आदि इनकी अनेक रचनाएं हिन्दी संसार में अमर ख्याति और आदर प्राप्त कर चुकी हैं। दीप-शिखा इनकी नवीनतम रचना है। यह इनकी मौलिक दार्शनिकता और अनुभूति की अमर देन है। चिरकाल तक इसके द्वारा उद्भ्रान्त मानवता का पथ-प्रदर्शन होता रहेगा—ऐसा हमारा विश्वास है। नीरजा पर इन्हें हिन्दी साहित्य-सम्मेलन की ओर से ५००) रुपये का सेकसरिया पारितोषिक मिल चुका है।

अभिमान

आलोक वहां लुटता है
बुझ जाते हैं तारागण,
अविराम जला करता है
पर मेरा दीपक सा मन !

जिसकी विशाल छाया में
जग बालक सा सोता है,
मेरी आंखों में वह दुख
आँसू बन कर रोता है !

जग हँस कर कह देता है
मेरी आंखें हैं निर्धन,
इनके बरसाये मोती—
क्या वह अब तक पानी गिन?

मेरी लघुता पर आती
जिस दिव्य लोक की व्रीड़ा,
उसके प्राणों से पूछो
वे पाल सकोंगे पीड़ा ?

उनसे कैसे छोटा है
मेरा यह भिक्षुक जीवन ?
उनमें अनन्त करुणा है
इसमें असीम सूनापन।

मुरझाया फूल

था कली के रूप, शैशव में अहो सूखे सुमन।
हास्य करता था खिलाती अंक में तुझ को पवन॥
खिल गया जब पूर्ण तू मंजुल सुकोमल पुष्पवर।
लुब्ध मधु के हेतु मँडराने लगे आने भ्रमर॥

स्निगध किरणें चन्द्र की तुझको हँसाती थीं सदा।
रात तुम पर वारती थी मोतियों की सँपदा॥
लोरियां गाकर मधुप निद्रा विवश करते तुझे।
यत्न माली के रहे आनन्द से भरते तुझे॥

कर रहा अठखेलियां इतरा सदा उद्यान में ।
अन्त का यह दृश्य आया था कभी क्या ध्यान में ?
सो रहा तू अब धरा पर शुष्क बिखराया हुआ ।।
गन्ध-कोमलता नहीं मुख मँजु मुरझाया हुआ ।।

आज तुझको देख कर चाहक भ्रमर धाता नहीं ।
लाल अपना राग तुझ पर प्रात बरसाता नहीं ।।
जिस पवन ने अङ्क में ले प्यार था तुझको किया।
तीव्र झोंके से सुला उसने तुझे भू पर लिया ।।

कर दिया मधु और सौरभ दान सारा एक दिन ।
किन्तु रोता कौन है तेरे लिये दानी सुमन ?
मत व्यथित हो फूल ! किसको सुख दिया संसार ने ?
स्वार्थमय सबको बनाया है यहाँ करतार ने ।।

विश्व में हे फूल ! तू सब के हृदय भाता रहा ।
दान कर सर्वस्व फिर भी हाय हर्षाता रहा ।।
जब न तेरी ही दशा पर दुख हुआ संसार को ।
कौन रोएगा सुमन ! हम से मनुज निस्सार को ?

दीपक से

मधुर-मधुर मेरे दीपक जल
युग-युग प्रतिदिन प्रतिक्षण प्रति पल,
प्रियतम का पथ आलोकित कर

सौरभ फैला विपुल धूप बन;
मृदुल मोम सा घुल रे मृदु तन;
दे प्रकाश का सिंधु अपरिमित,
तेरे जीवन का अणु गल गल !
पुलक-पुलक मेरे दीपक जल !
सारे शीतल कोमल नूतन,
मांग रहे तुझ से ज्वाला-कण;
विश्व-शलभ सिर धुन कहता 'मैं
हाय न जल पाया तुझ में मिल !'
सिहर-सिहर मेरे दीपक जल !
जलते नभ में देख असंख्यक,
स्नेह-हीन नित कितने दीपक,
जलमय सागर का उर जलता
विद्युत ले घिरता है बादल !
विहंस-विहंस मेरे दीपक जल !
मेरी निश्वासों से द्रुततर,
सुभग न तू बुझने का भय कर,
मैं अंचल की ओट किए हूँ,
अपनी मृदु-पलकों से चंचल !
सहज-सहज मेरे दीपक जल !
सीमा की लघुता का बंधन,
है अनादि तू मत घड़ियां गिन;

मैं दृग के अक्षय कोषों से
तुझमें भरती हूँ आंसू-जल !

सजल-सजल मेरे दीपक जल !

तम असीम तेरा प्रकाश चिर,
खेलेंगे नव खेल निरन्तर,

तम के अणु-अणु में विद्युत्-सा
अमिट चित्र अंकित करता चल !

सरल-सरल मेरे दीपक जल !

उलझन

आज कैसे उनको पाऊं ?

वे आंसू बन कर मेरे,
इस कारण ढुल ढुल जाते,
इन पलकों के बन्धन में,
मैं बांध बांध पछताऊं।

मेघों में विद्युत सी छवि,
उनकी बनकर मिट जाती,
आंखों की चित्रपटी में,
जिसमें मैं आंक न पाऊं।

वे आभा बन खो जाते,
शशि किरणों की उलझन में,
जिसमें उनको कण कण में,
ढूँ ढूँ, पहिचान न पाऊं।

सोते सागर की धड़कन—
बन लहरों की थपकी से;
अपनी यह करुण कहानी,
जिसमें उनको न सुनाऊं।

वे तारक बालाओं की,
अपलक चितवन बन आते,
जिसमें उनकी छाया भी,
मैं छू न सकूं अकुलाऊँ।

वे चुपके से मानस में,
आ छिपते उच्छ्वासें बन,
जिसमें उनको सांसों में,
देखूं पर रोक न पाऊँ।

वे स्मृति बन कर मानस में,
खटका करते हैं निशि दिन,
उनकी इस निष्ठुरता को,
जिसमें मैं भूल न जाऊँ।

महादेवी वर्मा

गीत

आज क्यों तेरी वीणा मौन ?
शिथिल शिथिल तन थकित हुए कर,
स्पन्दन भी भूला जाता उर,
मधुर कसक सा आज हृदय में
आन समाया कौन ?
आज क्यों तेरी वीणा मौन ?

झुकती आतीं पलकें निश्चल,
चित्रित निद्रित से तारक चल,
सोता पारावार दृगों में
भर भर लाया कौन ?
आज क्यों तेरी वीणा मौन ?

बाहर घन-तम, भीतर दुख-तम,
नभ में विद्युत तुझ में प्रियतम,
जीवन पावस-रात बनाने
सुधि बन छाया कौन ?
आज क्यों तेरी वीणा मौन ?

हरिकृष्ण 'प्रेमी'

इन का जन्म संवत् १९६४ में गुना (गवालियर) में हुआ था। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा स्थानीय स्कूल में हुई। इन्ट्रेंस की परीक्षा इन्होंने मुरार हाई स्कूल से पास की और उसके बाद कालेज-शिक्षा के लिए ये विक्टोरिया कालेज लश्कर में दाखिल हुए। कालेज पहुंचने के समय तक इनके हृदय में काव्य करने की प्रवृत्ति बहुत जोर पकड़ चुकी थी। आठों पहर इन्हें कविता करने की ही धुन लगी रहती थी। इसी से कालेज की पढ़ाई में इनका मन नहीं लगा और यह कालेज छोड़ने पर विवश हो गये। अब तो काव्य इनके जीवन का एक प्रमुख अङ्ग बन गया है। दुःखों से विश्राम पाने के लिए ये उसे अचूक साधन समझते हैं। आजकल ये लाहौर में परिश्रम से साहित्य-सेवा का कार्य कर रहे हैं।

युग की परिस्थितियों ने 'प्रेमी' जी का बहुत साथ नहीं दिया। जीवन के उषा काल में ही इनके सुख-स्वप्नों का उपहास आरंभ हो गया था। ये अभी दो वर्ष के थे कि इनकी माता का देहान्त हो गया। उसी दिन से लेकर आज तक इन्हें संसार के अनेक घात-प्रतिघात सहन करने पड़े हैं। इनके अपने शब्दों में इनके जीवन काल में कई बार ऐसे क्षण आये हैं जब इन्हें अपना अस्तित्व भी असह्य प्रतीत हुआ।

स्वाभाविक तौर पर इन स्थितियों का इनके काव्य पर गहरा प्रभाव पड़ा है। दुःखों के अंचल में पले हुए हृदय में शून्यता, निराशा और वेदना के भावों का पैदा हो जाना स्वाभाविक है, और यदि ऐसा हृदय अभाव के क्षणों में अदृश्य के प्रति आत्म-निवेदन कर अपने दुःख के संसार से मोक्ष पाने का यत्न करता है, इसमें आश्चर्य नहीं। प्रेमी जी के वेदनामय करुण काव्य की ओर छायावादी रचनाओं की यही कहानी है। इनके काव्य में भावना, अनुभूति और कल्पना का सुन्दर सम्मिश्रण है। भाषा की सरलता और स्वाभाविकता इसकी विशेषता है।

कविता के अतिरिक्त इन्होंने उच्च कोटि के अनेक नाटक भी लिखे हैं। उनमें कई एक खेले भी गये हैं। इनके नवीनतम सामाजिक नाटकों में युग की कतिपय समस्याओं पर अच्छा सहायक प्रकाश डाला गया है। इनमें अभाव-ग्रस्त श्रमिकों और हृदय-हीन पूंजीवादियों के स्वाभाविक संघर्ष का हृदयस्पर्शी चित्रण है।

इनकी मुख्य रचनाएँ ये हैं।

काव्य—आंखों में, जादूगरनी, अनन्त के पथ पर, अग्निगान।

नाटक—रक्षा-बंधन, पाताल-विजय, शिवा साधना, प्रतिशोध, स्वप्न-भंग, छाया, बन्धन।

पंखी की पीड़ा

१

पंखी एक पड़ा था पथ पर जिसमें बाक़ी कुछ जीवन था।
कवि ने उठा लिया, दुलराया, उसको आँखों में सावन था।
सहसा पलकें खोलीं पंखी ने पखों में गति-सी आई।
कवि मुसकाया, उसकी आँखों में संतोष दिया दिखलाई।

नीरव नयनों ने पंखी के
कहा कि 'तुम कैसे मानव हो ?
मुझे प्यार करने में अपना
समझ रहे तुम क्यों गौरव हो ?

२

"गीतों के निर्झर कोमल कवि, मेरे पास भला क्यों आए ?
मुझ को भी गाना आता है, पर मैंने वे गीत भुलाए।
भुला दिया दुनियाँ ने मुझको, मैंने उसकी भूल भुलाई।
मुझे पुनः जीवित कर तुम ने फिर से मेरी मौत बुलाई।

दिल दुखता है, कवि, मत पूछो,
मुझ से जीवन का अफ़साना।
अगर सुनोगे तो भय मुझ को
भूलोगे तुम अपना गाना।

३

"तुम व्याकुल हो मुझे विसुध-सा पथ पर पड़ा देख एकाकी।
पूछ रहे हो, 'नहीं रहा क्या, आज तुम्हारा घर भी बाकी।'
मेरी वाणी सूख गई है, मेरे अश्रु जल चुके सारे।
कवि, न तुम्हारी तरह देखता दिन में आसमान के तारे।

मुझ से अब अपनी सांसों का
बोझा उठता नहीं उठाए।
अब वह यौवन कहां कि शशि का
चुंबन लेने मन ललचाए।

४

'मैंने कभी नहीं गाए हैं इस दुनियां में गम के गाने।
साँझ-सवेरे छेड़ा करता था सुख से लबरेज़ तराने।
मैं संतोषी भोला पंखी चुग लेता था पथ के दाने।
सरिता का जल पी लेता था, मुझे चाहिए थे न खजाने।

जग ने ऊँचे महल बनाए,
पर मैंने कुछ बुरा न माना।
फिर उसको क्यों अखरा मेरा।
किसी डालपर नीड़ब नाना।

५

'मैं औ' मेरी विहगी रानी, एक-एक तिनका ला-लाकर,
सुखद बसेरा बना सके थे कितने ही दिन-रात लगा कर।
पर मनुष्य को बुरा लगा यह, क्यों उपवन में नीड़ बनाया।
एक सनक आई क्षण भर में उसने मेरा महल गिराया।

तोप नहीं थी पास हमारे,
हमने सब चुप-चाप सह लिया।
दोनों ने आंखों आंखों में
कहना था, चुपचाप कह लिया।

६

"क्या मानव, क्या विहग जगत् पर है अधिकार समान सभी का
जिस में प्यारे फूल सजाए प्रभु ने वह उद्यान सभी का।
हमें नहीं भाया उपवन का वास छोड़ कर वन को जाना।
वैसे तो वन के वासी हैं, पर मानव का हुक्म न माना
अखिल विश्व अधिवास हमारा,
जहां करे जी नीड़ा बनावें।
क्यों मानव के बंदी बनकर,
बैठें, उठें, हंसें या गावें।

७

"हमने पुनः परिश्रम करके वहीं दुबारा नीड़ बनाया।
जब मानव आया तब उसका ध्यान खींचने गाना गाया।
वह था शक्तिवान् उसको भी अपना यह अपमान न भाया।
लौट पड़ा आंखें तरेर कर, फिर पिस्तौल उठाकर लाया।
मैं दाने लेने निकला था,
विहगी रही अकेली भोली।
उसकी नन्हीं जान भुन गई
लगते ही मानव की गोली।

८

"पंख थक गए अब मेरे भी, जीवन में अब जान नहीं है
जिसमें साँसें उलझ रही थीं, मेरा वह सामान नहीं है।
वक्त बदलते दुनिया बदली, स्वजनों में सम्मान नहीं है।
अब मुझसे कहते हैं, 'पागल' तुम से तो पहचान नहीं है।

सूने पथ पर पड़ा हुआ था,
घर का नाम-निशान नहीं है।
मैं एकाकी मेरा जग में,
आज किसी को ध्यान नहीं है।

९

कभी सोचता था मैं मन में गीतों का आकाश बनालूं।
मैं उत्साह-सुरा को पीकर पतझड़ को मधु मास बनालूं।
मेरे पंख तड़पते रहते जीवन को उच्छ्वास बनालूं।
सदा हृदय चाहा करता था शशि को अपने पास बनालूं।

वेसपने सब स्वप्न हो गए,
कैसे अपनी सांस सँभालूं।
जहां न जाय किरण आशा की
क्यों न वहीं अधिवास बनालूं।

१०

कवि ने कहा कि "सच है दुनिया जलती हिंसा की ज्वाला में।
भेद नहीं है, आज सर्प में और गले की वरमाला में।

आज स्वजन ही गला काटते, किससे बचकर चलें यहाँ पर ?
सभी जगह तलवार तन रही बच कर जावे कहो कहां पर ?
नित्य नए शस्त्रास्त्र बन रहे,
है भयभीत सभ्यता सारी।
पंखी केवल तुम पर ही क्या,
आज विश्व पर विपदा भारी।

११

"जब से स्वार्थ घुसा प्राणों में हिंसा नस-नस में है छाई।
भाई के लोहू का प्यासा आज दिखाई देता भाई।
पँखी नीड़ तुम्हारा ही क्या, सभी गरीबों के घर लुटते।
आज मानवों को खाने को दो दाने भी सहज न जुटते।
पर वह सब कृत्रिम उबाल है,
इसका दौरा चल न सकेगा।
हिम्मत हारो यह जग फिर,
प्रेम-पंथ की ओर मुड़ेगा"।

रक्षा-बन्धन

(१)

बहन, बांध दे रक्षा-बन्धन मुझे समर में जाना है।
अब के घन-गर्जन में रण का भीषण छिड़ा तराना है।
दे आशीश, जननि के चरणों में यह शीश चढ़ाना है।
बहन, पोंछ ले अश्रु, गुलामी का यदि दुःख मिटाना है।

अँतिम बार बांध ले राखी,
करले प्यार आखिरी बार।
मुझ को जालिम ने फांसी की
डोरी कर रक्खी तैयार।

(२)

रक्षा, रक्षा कायरता से, मर मिटने का दे बरदान।
हृदय-रक्त से टीका करदे, कर मस्तक पर लाल निशान।
बह जीवन का स्रोत आज कर मेरे मानस में संचार।
काँप न जाऊँ देख समर में रिपु की बिजली-सी तलवार।

अपना शीश कटा जननी की
जय का मार्ग बनना है।
बहन, बांध दे रक्षा-बँधन
मुझे समर में जाना है!

(३)

जिसने लाखों ललनाओं के पोंछ दिए सर के सिंदूर।
गड़ा रहा कितनी कुटियाओं के दीपों पर आंखें क्रूर।
वज्र गिरा कर कितने कोमल हृदय कर दिए चकना चूर।
उस पापी की प्यास बुझाने, बहन, जा रहे लाखों शूर।

मृत्यु विटप की शाखा पर मैं
डाल हिंडोला झूलूँगा।

दो पैरों में अमर लोक की
अँतिम सीढ़ी चूमूँगा !

(४)

बहन, शीश पर मेरे रखदे स्नेह-सहित अपना शुभ हाथ।
कटने के पहले न झुके यह ऊंचा रहे गर्व के साथ !
उस हत्यारे ने कर डाला, अपना सारा देश अनाथ !
आश्रयहीन हुई यदि तू भी, ऊंचा होगा तेरा माथ !

दीन भिखारिन बन कर तू भी
गली-गली फेरी देना !
उठो बंधुओ, विजय-वधू को
वरो, तभी निद्रा लेना !

(५)

आज सभी देते हैं अपनी बहनों को अमूल्य उपहार !
मेरे पास रखा ही क्या है आँखों के आंसू दो-चार !
ला, दो चार गिरा दूं, आगे अपना अंचल पिमल पसार !
तू कहती है, 'ये मणियाँ है इन पर न्योछावर संसार !

बहन, बढ़ा दे चरण कमल में
अंतिम बार उन्हें लूं चूम।
तेरे शुचि स्वर्गीय स्नेह के,
अमर नशे में लूं अब झूम।

(६)

जिस कर में अब बांध रही है तू अपनी राखी के तार,
उसे हृदय पर रख देना तू मुझे चिता पर रखती बार !
'मृत्यु गुलामी से सुन्दर है, कायरता से शुभ संहार !
अपनी राखी के तार में, बहन, यही भर दो झंकार !

कभी इस राखी के धागे
पर कट गये हज़ारों शीश !
इस धागे की लाज रखूंगा,
दे बहना, मुझको आशीश !

गीत

अविरत पथ पर चलना री !
गति जीवन का चरम लक्ष्य है
विरति, मुक्ति, सब छलना री !
अविरत पथ पर चलना री !

'रण में सहसा मरण' महत है,
पर क्या वह जीवन का 'सत' है ?
जीवन तो बलि-पथ शाश्वत है
अणु-अणु कर के गलना री !
अविरत पथ पर चलना री !

सरल, चिता-शय्या पर सोना,
कठिन दुःख सहना—सब खोना,
मिट जाना, पर विकल न होना !
तिल-तिल करके गलना री !
अविरत पथ पर चलना री !

शब्द-कोश

कबीर

पृष्ठ संख्या

३ पारस—एक प्रकार का पत्थर, जिसके स्पर्श से लोहा सोना हो जाता है।

सांकरी—तंग।

४ कुरंग—मृग।

वार—देरी।

५ खेल—धूलि।

केरा—केला।

६ नारी—स्त्री, नाड़ी।

७ हाड़—हड्डी, शरीर।

स्वान—कुत्ता।

८ पैठि-प्रविष्ट हो, घुस कर

गाडर की ठाट—भेड़ों की कतार।

९ लाहे—लाभ।

सबूरी—सन्तोष।

१० पैसि—घुसकर।

सूरदास

पृष्ठ संख्या

सलिता—नदी।

१३ मैन—कामदेव।

तड़ित—बिजली।

बोरत डूबते।

बिरद—यश।

रविसुत-त्रास—यमराज का भय।

१५ अघमोचन-पापों से मुक्त करने वाला।

खर—गधा।

अरगजा—सुगन्धित पदार्थ

मरकट—वानर।

पाहन—पत्थर।

निषंग—तरकश।

१५ अम्बुज—कमल

नवनीत—मक्खन।

रेनु—धूलि।

पृष्ठ संख्या

मधुप—भ्रमर।
केहरी—सिंह।
१६ लकुट—लकड़ी।
मौंडा–(पंजाबी मुंडे) बालक।
१७ चबाई–निन्दा करने वाला
१८ पुरवे—पूरी करो।
रूपरसराँची–रूप देखने में लीन।
भूखी—खीजी।
पतूखी—पत्तों का दोना
बारक—एक बार।
सुरभी—धेनु, गाय।
अलि—भ्रमर।
विहंगम—पक्षी।
१६ पनारे–धाराएँ, परनाले
जल-सुत—कमल।
सारंग—मृग।

तुलसीदास

२२ अवनि—पृथ्वी।
झई—छाया, अन्धेरा।
कत—क्यों।
अपजस—बदनामी।
भाजन—पात्र।

पृष्ठ संख्या

२३ बहुरि—फिर।
बच्छु—वत्स, प्रिय।
आयसु—आज्ञा।
२४ कुलिश—वज्र।
गाइगोठ—गोशाला।
माहुर—विष।
पातक—पाप।
२५ पिसुन—चुगुलखोर।
परदारा—दूसरे की स्त्री
वंचक–धोका देने वाला।
काया—शरीर।
२६ विधु—चन्द्रमा।
वारिरच—बादल।
वरु—भले ही।
बयसु—वैश्य।
मुसरू–वाचाल, बहुत ने वाला।

२७ प्रपचरत—कपटी।
वैघानस—तपस्वी।
सुअन—पुत्र।
वादि—व्यर्थ।
रजायसु–आदेश आज्ञा।
र—सफल;

पृष्ठ संख्या		पृष्ठ संख्या	
२८	विरहागी–विरह-वियोग की आग ।		सिहाते—रोमाचित
	प्रवाना—प्रेमाण ।		अंचई—आचमन ।
	भूत-रजाई—राजा की आज्ञा ।		मंजु—सुन्दर ।
	अमरपति-अयन–इन्द्र का स्थान अथवा स्वर्ग		किरातिनि—भीलनी ।
२९	मनुज-अनुहारी—मनुष्य का अनुकरण करके अर्थात् मनुष्य की तरह ।		प्रनति—विनय ।
	विपिन—वन ।	३३	मसि—स्याही ।
	आतप—धूप ।		मनुजाद—राक्षस ।
	सहोदर—सगा भाई ।	३४	चपरि—चपलता से तेजी से ।
३०	छति-क्षति—कमी ।		दादुर—मेंढक ।
	राजिव-दल–कमल पत्र		रहीम
	उछाहुं–उत्साह आनन्द	३७	अमी—अमृत ।
३१	पर्नसाल–पर्णशाला झोंपडी	३८	पयान—कूच ।
	अभियहु—अमृत से ।		चून—चूना ।
	अंबक–नेत्र ।		विषान—सींग ।
	डिंभ—बालक ।	३९	अथवत–अस्त होना ।
	पाँवड़े–पावों झाड़ने का वस्त्र पायंदाज ।		केरू—केला ।
३२	पखारि—धोकर ।		बापुरो बेचारा ।
			तरैयनि–तारागण ।
		४१	अघाय–तृप्त होते हैं ।
			गुन–गुण रस्सी ।
		४२	मही—गड्ढा ।
			गोय—छिपाकर ।
			असन—भोजन ।

पृष्ठ संख्या

तोइ—जल।
रीतिहि—खाली होने पर
४३ भेषज—दवाई।
भारतेन्दु हरिश्चन्द्र।
४६ करार—किनारे।
पराछित—प्रायश्चित
४७ वही—हिसाब किताब लिखने की कापी।
पोहति—पिरोती है।
सोपान—सीढ़ी।
४८ सरवस—सर्वस्व।
ऐरावत—इन्द्र के हाथी का नाम है।
अंकम—गोदी से।
जोहत—देखते ही।
करि साका—शक्ति से जोर से।
४६ तरनि-तनूजा—यमुना।
मुकुर—शीशा।
गोभा—अङ्कुर।
बगरे—बिखरे फैले हुए
ओभा—आभा रौनक।
पवन-गवन-वस—पवन चलने से।

पृष्ठ संख्या

पारावत—कबूतर।
कारण्डव—सारस।
५० रच्छित—रक्षा किया हुआ
सिच्छित—सीखा हुआ।
अवनीसा—राजा।
५० विधना—विधाता।
घिनाई—घृणा आती है।
५५ आगर—घर।
अयोध्या सिंह उपाध्याय
५६ कमलिनीकुल-वल्लभ—सूर्य।
विनिमज्जित—डूबी हुई।
५७ समवेत—इकट्ठी।
५८ वयस्क—युवक।
५६ ककुभ—दिशा।
कदन करके—विनाश कर
नलिनीश—सूर्य।
६० लवर—ज्वाला लपट।
उकठे—सूखे।
६५ कौर—ग्रास।
सोत—स्त्रोत, झरता।
मैथिलीशरण गुप्त
७० शुल्क—फीस।
अकिञ्चन—गरीब।

पृष्ठ संख्या

७१ सामप्रतिक—आज कल की
७३ मेखला—कटि-सूत्र।
रत्नाकर—समुद्र।
पयोद—बादल।
४७ तरणि—सूर्य।
सुधोपम—अमृत के सदृश
७५ त्राण—रक्षा।
७७ खरशर—तेज बाण।
आखेटक—शिकारी।
तुषार—कुहरा।
८२ श्रीखण्ड—चन्दन।
वैतरणी, वरुणा—नदियों के नाम हैं।
८३ पंकिला—कीचड़ वाली कलंकिनी।
८५ प्रगति—उन्नति।
क्रियता-कार्यक्षमता।
८६ सत्व—बल।
जयशंकर प्रसाद
९३ सैनप—सेनापति।
परिणीता—विवाहिता।
कर्णधार—नाविक।
९३ सरसिज—कमल।
किंजल्क—पुस्परस।

पृष्ठ संख्या

९४ विरज—रजोगुण से रहित।
विशोक—शोक से रहित।
सुदिन-मणि-वलय—सूर्य।
९५ निरीह—भोले।
९७ अहमिति—अहंकार।
सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'
१०० प्रसून—पुष्प।
चतुर्दिक—चारों दिशाओं में।
१०४ अवसान-विनाश समाप्ति
उन्मन—आतुर व्याकुल।
११४ झष—मछली।
दुःख-विधुरा—दुख से व्याकुल।
सियारामशरण गुप्त
११६ क्षिति—पृथ्वी।
उत्तुङ्ग काय—बड़ी देह वाला।
१२० अन्तराय—विघ्न।
गहवर—गुहा।
१२१ दुर्धर—प्रबल।
१३३ अशनि—वज्र।
१३३ कृतांत—यमराज।

पृष्ठ संख्या

विभ्रंश—नाश।
१३१ आलोक—प्रकाश।
विधु—चन्द्रमा।
१३४ छोर—किनारा।
गुलझट—उलझन की गांठ
अभिव्यक्ति—प्रकाशन।
१३५ रजनी—रात्रि।
आसव—मादक द्रव।
दावानल—अग्नि (बन की आग)।
नियति—भाग्य, विधाता
१३६ रूढ़ि—प्रथा।
गरल—विष, जहर।
१३७ अल्हड़पन—भोलापन।

पृष्ठ संख्या

१३८ स्मय—मुसकान!
कँगुरा—शिखर।
१४० रिक्त—खाली।
आगत—भविष्य।
१४१ खगोल—आकाश-मंडल।
इति—समाप्ति, अन्त।
अथ—आरँभ।
हरिकृष्ण प्रेमी
१५६ लबरेज—भरा हुआ।
१५७ विहगी—स्त्री-पक्षी।
१५८ मधुमास—बसन्त।
१५९ जुटते—प्राप्त होते।
१६२ अविरत—निरन्तर।
शाश्वत—नित्य।

———